मार्च, 2014

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान संपादक
अनूप कुमार वार्ष्णेय

संपादक
जुगल किशोर

महत्वपूर्ण निर्णय

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 197 [सपठित झारखंड पुलिस मैनुअल का नियम 825] – लोक सेवकों का अभियोजन – सरकार की पूर्व मंजूरी – जब किसी लोक सेवक को अभियोजन चलाने से पूर्व सक्षम प्राधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया का पालन करते हुए सेवा से हटा दिया गया हो, तो अभियोजन चलाने के लिए सरकार की पूर्व मंजूरी आवश्यक नहीं होगी, भले ही अभिकथित अपराध उसके द्वारा अपने पदीय कर्तव्य का निर्वहन करते हुए कारित किया गया हो ।

फखरुज़्ज़म्मा बनाम **झारखंड राज्य और एक अन्य** 432

लेख

हिंदी में संविधान – दशा एवं दृष्टि (1) – (14)

पृष्ठ संख्या 309 – 471 **[2014] 1 उम. नि. प.**

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका – मार्च, 2014 [पृष्ठ संख्या 309 – 471]

संपादक-मंडल

श्री पी. के. मल्होत्रा,
सचिव, विधायी विभाग

श्रीमती शारदा जैन, संयुक्त सचिव एवं विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. बी. एन. मणि, अधिवक्ता,
(पूर्व संपादक) वि.सा.प्र.

प्रो. डा. वैभव गोयल, संकायाध्यक्ष
लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी (उत्तराखण्ड)

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, गुरु गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

डा. आर. पी. सिंह,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव, राजभाषा खंड

श्री लालजी प्रसाद,
सेवानिवृत्त प्रधान संपादक, वि.सा.प्र.

श्री के. जी. अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनूप कुमार वार्ष्णेय,
प्रधान संपादक

श्री महमूद अली खां,
संपादक

श्री जुगल किशोर,
संपादक

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
संपादक

सहायक संपादक : सर्वश्री विनोद कुमार आर्य, कमला कान्त, अविनाश शुक्ल और असलम खान

उप-संपादक : सर्वश्री दयाल चन्द ग्रोवर, एम. पी. सिंह और जसवन्त सिंह

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 19

वार्षिक : ₹ 225

© 2014 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग), भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

मार्च, 2014

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
जॉन के. अब्राहम **बनाम** साइमन सी. अब्राहम और एक अन्य	425
जोशिन्द्र यादव **बनाम** बिहार राज्य	449
फखरुज़म्मा **बनाम** झारखंड राज्य और एक अन्य	432
बक्शीश राम और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य	309
बैंक आफ महाराष्ट्र **बनाम** पांडुरंग केशव गोरवार्डकर	342
मनोहर लाल शर्मा **बनाम** भारत संघ और एक अन्य	322
राजस्थान राज्य **बनाम** शंभू केवट और एक अन्य	413
राजस्थान राज्य **बनाम** श्रवण राम	329
श्याम नारायण **बनाम** राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली	395
शेरिश हरदेनिया और अन्य **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य	440

लेख

हिंदी में संविधान – दशा एवं दृष्टि	(1) – (14)

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1)

– धारा 529(1), परन्तुक धारा 529-क, 446 और 450 [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – कानूनी प्रभार – जब कोई कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है तब कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति पर एक कानूनी प्रभार सृजित हो जाता है और यह प्रभार प्रतिभूत लेनदारों की हकदारी की मात्रा के अनुसार होता है तथा वह अनुपात निकालने के लिए जिसके आधार पर विक्रय आगमों का कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण किया जाना होता है, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख होती है न कि प्रतिभूति का विक्रय किए जाने की तारीख होती है ।

बैंक आफ महाराष्ट्र बनाम **पांडुरंग केशव गोरवार्डकर** 342

– धारा 529(1), परन्तुक और धारा 529-क [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – जब कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है तब कर्मकारों के देयों का अवधारण करने और कर्मकारों के भाग को परिमाणित करने के लिए समापक ही सक्षम होता है न कि कोई अन्य प्राधिकारी ।

बैंक आफ महाराष्ट्र बनाम **पांडुरंग केशव गोरवार्डकर** 342

– धारा 529(1), परन्तुक धारा 529-क, 446 और 450 [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण

पृष्ठ संख्या

वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – यदि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय आगमों के अंतिम संवितरण से पूर्व कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है या अंतरिम समापक की नियुक्ति कर दी जाती है तो कंपनी अधिनियम के अधीन ऐसे विक्रय आगमों पर कर्मकारों के देयों के पक्ष में कानूनी प्रभार का सृजन हो जाता है ।

बैंक आफ महाराष्ट्र बनाम **पांडुरंग केशव गोरवार्डकर** 342

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 197 [सपठित झारखंड पुलिस मैनुअल का नियम 825] – लोक सेवकों का अभियोजन – सरकार की पूर्व मंजूरी – जब किसी लोक सेवक को अभियोजन चलाने से पूर्व सक्षम प्राधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया का पालन करते हुए सेवा से हटा दिया गया हो, तो अभियोजन चलाने के लिए सरकार की पूर्व मंजूरी आवश्यक नहीं होगी, भले ही अभिकथित अपराध उसके द्वारा अपने पदीय कर्तव्य का निर्वहन करते हुए कारित किया गया हो ।

फखरुज़म्मा बनाम **झारखंड राज्य और एक अन्य** 432

– धारा 354 – दंड की मात्रा – अपराध कारित किए जाने की रीति – समाज की न्यायालय से मांग – समाज न्यायालय से दंड की मांग करता है और ऐसी मांग के लिए न्यायालय विधिक मापदंडों के अधीन कार्य करने के लिए आबद्ध है और विधायी आदेश के अनुसरण में दंड अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए जिसका विवेकाधिकार न्यायालय को होगा, अतः अपराध

पृष्ठ संख्या

की गंभीरता और कारित किए जाने की रीति को ध्यान में रखते हुए विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत और उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि किया गया आजीवन कठोर कारावास का दंड उचित होगा ।

श्याम नारायण बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली** 395

– धारा 386 – अपील न्यायालय – स्वतंत्र निर्धारण – अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्धारण को केवल दोहराना नहीं चाहिए अपितु स्वतंत्र रूप से निर्धारण करना चाहिए अन्यथा अपील न्यायालय का विनिश्चय कायम नहीं रखा जा सकता ।

बक्शीश राम और अन्य बनाम **पंजाब राज्य** 309

– धारा 482 और 320 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 307] – उच्च न्यायालय द्वारा पक्षकारों के बीच हुए समझौते के आधार पर अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए अशमनीय अपराध का शमन किया जाना – अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते समय अपराध की प्रकृति और गंभीरता तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रति सम्यक् ध्यान दिया जाना आवश्यक है, जिनकी उच्च न्यायालय द्वारा पूर्णतः अनदेखी की गई और यह दृष्टिकोण अपनाकर गलती की गई कि अभिकथित अपराध संपूर्ण समाज के विरुद्ध न होकर एक व्यक्ति के विरुद्ध था और धनीय प्रतिकर प्राप्त करके मामला तय कर लेने पर अभियुक्तों के विरुद्ध अपराध समाप्त हो गया था ।

राजस्थान राज्य बनाम **शंभू केवट और एक अन्य** 413

– धारा 482 और 320 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 307] – उच्च न्यायालय द्वारा पक्षकारों के बीच हुए समझौते के आधार पर अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए अशमनीय अपराध का शमन

पृष्ठ संख्या

किया जाना – दांडिक न्याय व्यवस्था – उद्देश्य – दांडिक न्याय व्यवस्था का उद्देश्य समस्त लोगों की सुरक्षा और संरक्षा करना है और गंभीर अपराध पर नरम दृष्टिकोण अपनाने से दांडिक न्याय व्यवस्था के बारे में एक गलत छाप छूटेगी तथा आपराधिक कृत्यों को बढ़ावा मिलेगा जो समाज के शांतिपूर्ण सामंजस्य और कल्याण के लिए खतरनाक होगा ।

राजस्थान राज्य बनाम **शंभू केवट और एक अन्य** 413

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 302 [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32] – हत्या – बहु को आग में जलाना – एक से अधिक मृत्युकालिक कथन – विश्वसनीयता – कथनों में विरोधाभास – कथनों का संदिग्ध पाया जाना – दोषसिद्धि संभव नहीं – यदि दो मृत्युकालिक कथनों में विरोधाभास है और साक्षियों के अभिसाक्ष्य में फर्क भी है तब ऐसे मृत्युकालिक कथनों के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती ।

राजस्थान राज्य बनाम **श्रवण राम** 329

– धारा 302 और 149 [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 106] – हत्या – शव नदी में पड़ा पाया जाना – अपीलार्थी-अभियुक्त सहित सभी अभियुक्तों द्वारा मकान खाली करके सामान सहित फरार हो जाना – चूंकि मृतका अभियुक्तों के साथ उनके मकान में रह रही थी और उसके गायब होने तथा शव नदी में पड़ा पाए जाने पर अभियुक्तों द्वारा यह सिद्ध करने के भार का निर्वहन नहीं करने पर कि उसका शव नदी के पानी में कैसे पड़ा पाया और मामले की रिपोर्ट पुलिस को क्यों नहीं की गई, उनके विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाना उचित है और उनकी

पृष्ठ संख्या

दोषसिद्धि न्यायोचित है ।

जोशिन्द्र यादव बनाम **बिहार राज्य** 449

– धारा 304-ख – दहेज मृत्यु – अपीलार्थी पति और उसके माता-पिता द्वारा मृतका को आग में जलाए जाने का अभिकथन – मृतका की माता द्वारा दिए गए साक्ष्य का अनुश्रुत पाया जाना – घटना के पूर्व की गई मांग का पूरा किया जाना – यदि साक्षी ने अपनी निजी जानकारी के आधार पर कुछ न कहा हो अपितु अनुश्रुत साक्ष्य दिया हो और साथ ही अपीलार्थियों द्वारा की गई मांग मृतका के माता-पिता ने पूरी कर दी हो, तब ऐसी स्थिति में मृतका को आग में जलाए जाने का कारण दिखाई नहीं पड़ता है, अतः अपीलार्थी दहेज मृत्यु के दोषी नहीं होंगे ।

बक्शीश राम और अन्य बनाम **पंजाब राज्य** 309

– धारा 304-ख [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 113-ख] – दहेज मृत्यु – घटना के कुछ पूर्व क्रूरता करना या तंग किए जाने का साक्ष्य न होना – दहेज मृत्यु की उपधारणा का लागू न होना – उच्च न्यायालय को अपील न्यायालय की हैसियत से मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और साक्ष्य का स्वयं निर्धारण करके उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने चाहिए तथा विचारण न्यायालय के निर्धारण को मात्र दोहराना पर्याप्त नहीं हो सकता और उच्च न्यायालय द्वारा स्वतंत्र निर्धारण न किए जाने की स्थिति में उसके विनिश्चय को कायम नहीं रखा जा सकता ।

बक्शीश राम और अन्य बनाम **पंजाब राज्य** 309

– धारा 376 – बलात्संग – आहत कन्या की आयु 8 वर्ष – आहत के गुप्तांगों से रक्तस्राव – अभियुक्त द्वारा आहत को अस्पताल ले जाया जाना – आहत के घर

पृष्ठ संख्या

पर अभियुक्त की मौजूदगी का स्पष्टीकरण न दिया जाना तथा आहत के साक्ष्य से चिकित्सीय साक्ष्य की संपुष्टि होना – चूंकि अभियुक्त ने यह कारण स्पष्ट नहीं किया है कि वह बालिका के घर क्यों गया था और चिकित्सकों के परिसाक्ष्य, चिकित्सीय साक्ष्य तथा अभियुक्त के आचरण से आहत के साक्ष्य की संपुष्टि होती है, इसलिए अभियुक्त की दोषसिद्धि न्यायोचित होगी ।

श्याम नारायण बनाम **राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली** 395

– धारा 498-क, 302, 201 और 149 – विवाहित स्त्री के साथ क्रूरता – मामले की परिस्थितियों और साक्षियों के साक्ष्य से यह सिद्ध होने पर कि अपीलार्थी-अभियुक्त सहित अन्य सभी अभियुक्तों ने दहेज की मांग के लिए मृतका के साथ क्रूरता की थी और उसे तंग किया था, तब अपीलार्थी-अभियुक्त का यह अभिवाक् कि वह अन्य अभियुक्तों से अलग रह रहा था, स्वीकार नहीं किया जा सकता है और उसकी दोषसिद्धि उचित है ।

जोशिन्द्र यादव बनाम **बिहार राज्य** 449

– धारा 498-क, 302, 201 और 149 – विवाहित स्त्री के साथ क्रूरता और हत्या – अभियोजन के पक्षकथन में विष देने का अभिकथन किया जाना – मृतका के विसरा को रासायनिक परीक्षण के लिए न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला न भेजा जाना – हत्या के जिन मामलों में विष दिए जाने की आंशका हो, यह न्याय के हित में होगा कि मरणोत्तर परीक्षा के तुरंत पश्चात् विसरा को रासायनिक परीक्षण के लिए अवश्य न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाना चाहिए और दांडिक न्यायालय को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि न्यायालयिक विज्ञान

पृष्ठ संख्या

प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिलेख पर उपलब्ध हो ।

जोशिन्द्र यादव बनाम **बिहार राज्य** 449

– धारा 498-क और धारा 306 – क्रूरता – आत्महत्या का दुष्प्रेरण – पति द्वारा दहेज की मांग – परिवार के चार अन्य सदस्यों का भी आरोपित किया जाना – अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री का पर्याप्त होना – यदि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री से अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है तब ऐसी स्थिति में उन्हें उन्मोचित नहीं किया जा सकता और उनका विचारण किया जाना न्यायोचित होगा ।

शेरिश हरदेनिया और अन्य बनाम **मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य** 440

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 2)

– धारा 138 – चैक का अनादरण – प्रत्यर्थी-शिकायतकर्ता के साक्ष्य में अपीलार्थी-अभियुक्त को उधार दिए गए धन की तारीख, उधार की रकम का चैक किसने लिखा, संव्यवहार कब और कहां किया गया आदि के बारे में पाई गई विभिन्न त्रुटियों के कारण शिकायतकर्ता का मामला साबित नहीं होने पर अपीलार्थी-अभियुक्त को दोषमुक्त करना उचित है और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटकर अवैधता की है ।

जॉन के. अब्राहम बनाम **साइमन सी. अब्राहम और एक अन्य** 425

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51)

– धारा 19(19) और 17 [सपठित कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529(1) के परन्तुक के साथ पठित धारा 529-क] – ऋण वसूली अधिकरण की

पृष्ठ संख्या

अधिकारिता – ऋणी कंपनी के कर्मकारों द्वारा अपने देयों मद्धे कंपनी की प्रतिभूतियों के विक्रय आगमों पर प्रतिभूत लेनदारों के साथ मात्रा के अनुसार दावा – ऋण कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करना एक सारवान् विषय है और ऋण वसूली अधिकरण ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन/अवधारण करने के लिए सशक्त नहीं है ।

बैंक आफ महाराष्ट्र बनाम **पांडुरंग केशव गोरवार्डकर** 342

– धारा 19(19) – ऋण वसूली अधिकरण – ऋणी कंपनी के कर्मकारों द्वारा अपने देयों का दावा – यदि ऋणी कंपनी न तो समापनाधीन और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है तथा मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो प्रतिभूत लेनदारों के बीच धारा 19(19) में निहित रीति में विक्रय आगमों के वितरण का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है और ऐसी दशा में प्रतिभूति के संपूर्ण विक्रय आगमों का वितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को किया जाएगा तथा विक्रय आगमों का संपूर्ण वितरण हो जाने पर ऋणी कंपनी का बाद में समापनाधीन हो जाना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय आगमों के वितरण को फिर से खोलने के लिए कोई आधार नहीं होगा ।

बैंक आफ महाराष्ट्र बनाम **पांडुरंग केशव गोरवार्डकर** 342

विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम, 1999

– धारा 6(3) और 47 [सपठित विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) विनियम, 2000 तथा विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति

पृष्ठ संख्या

का अंतरण या निर्गमन) (तृतीय संशोधन) विनियम, 2012] – सरकार द्वारा बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात करने की नीति – नीति की प्रभावकारिता के आधार पर न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप – चूंकि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति केवल एक समर्थकारी नीति है और राज्य सरकारें/संघ राज्यक्षेत्र बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात करने या न करने के लिए स्वतंत्र हैं इसलिए न्यायालय ऐसी नीति के गुणागुण की परीक्षा करने के लिए स्वतंत्र नहीं है और न्यायालय किसी सरकारी नीति में तब तक हस्तक्षेप नहीं करता है जब तक कि वह असांविधानिक या कानूनी उपबंधों के प्रतिकूल या मनमानी या अतर्कसंगत न हो या उसके द्वारा शक्ति का दुरुपयोग न किया गया हो ।

मनोहर लाल शर्मा बनाम **भारत संघ और एक अन्य** 322

साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1)

– धारा 32 [सपठित राजस्थान पुलिस नियम, 1965 – नियम 6.22] – मृत्युकालिक कथन की अनुकूलता – कथन में अभियुक्त को नामित न किया जाना – यदि मृत्युकालिक कथन में अभियुक्त को अपराध कारित किए जाने के लिए नामित नहीं किया गया है तब ऐसी स्थिति में मृत्युकालिक कथन का अवलंब नहीं लिया जा सकता चाहे वह कथन राजस्थान पुलिस नियम के अनुसरण में क्यों न हो ।

राजस्थान राज्य बनाम **श्रवण राम** 329

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ को पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । तीनों निर्णय पत्रिकाओं की वार्षिक कीमत केवल ₹ 495/- है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 225/- है, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रय के लिए उपलब्ध विधि पाठ्य पुस्तकों की सूची

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	कीमत (₹)
1.	भारत का विधिक इतिहास	श्री सुरेन्द्र मधुकर	410	30.00
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि	डा. एन. पी. परांजपे	371	40.00
3.	वाणिज्य विधि	डा. आर. एल. भट्ट	630	108.00
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धान्त (तृतीय संस्करण)	श्री शर्मन लाल अग्रवाल	357	40.00
5.	अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. सी. खरे	273	115.00
6.	मानव अधिकार	डा. शिवदत्त शर्मा	340	120.00
7.	दण्ड प्रक्रिया संहिता	न्या. महावीर सिंह	840	200.00

पुस्तकों की सूची जिन पर छूट देने की स्वीकृति प्राप्त की गई है ।

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	मूल दर (₹)	संशोधित दर (₹)
1.	संविदा विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रामगोपाल चतुर्वेदी	552	275.00	137.00
2.	श्रम विधि (तृतीय संस्करण)	श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा	658	452.00	226.00
3.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान (तृतीय संस्करण)	डा. सी. के. पारिख अनुवादक डा. एन. के. पटौरिया	969	293.00	146.00
4.	आधुनिक पारिवारिक विधि	श्री राम शरण माथुर	767	429.00	214.00
5.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय)	संकलन संपादन – ब्रह्मदेव चौबे	209	225.00	112.00
6.	हिन्दू विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रवीन्द्र नाथ	617	425.00	212.00
7.	भारतीय दंड संहिता	डा. रवीन्द्र नाथ	696	741.00	370.00
8.	भारतीय भागीदारी अधिनियम (द्वितीय संस्करण)	श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ	272	165.00	82.00
9.	प्रशासनिक विधि (तृतीय संस्करण)	डा. कैलाश चन्द्र जोशी	635	200.00	100.00
10.	विधिक उपचार (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. के. कपूर	414	311.00	155.00
11.	विधि शास्त्र	डा. शिवदत्त शर्मा	501	580.00	377.00

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

तुलनात्मक सारणी

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

[2014] 1 उम. नि. प.

जनवरी-मार्च, 2014

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.		ए. आई. आर. (एस. सी.)		एस. सी. सी.	
1	2	3		4		5	
1.	मनुभाई रतिलाल पटेल, द्वारा उषाबेन **बनाम** गुजरात राज्य और अन्य (28 सितंबर, 2012)	[2014] 1	1	2013	313	(2013) 1	314
2.	जॉयदेब पात्र और अन्य **बनाम** पश्चिमी बंगाल राज्य (6 मार्च, 2013)		19		–	–	–
3.	मुख्य कार्यपालक अधिकारी, पांडिचेरी खादी और ग्राम उद्योग बोर्ड और एक अन्य **बनाम** के. अरूकिया राड्जा और अन्य (12 मार्च, 2013)		25		1805	3	780
4.	उत्तराखंड राज्य **बनाम** योगेन्द्र नाथ अरोड़ा (18 मार्च, 2013)		44		1489	14	299
5.	सूगुरु सुब्रह्मण्यम **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (4 अप्रैल, 2013)		53		1643	4	244

1	2	3		4		5	
6.	कन्हैया लाल **बनाम** राजस्थान राज्य (22 अप्रैल, 2013)	[2014] 1	66	2013	1940	(2013) 5	655
7.	प्रेम कौर **बनाम** पंजाब राज्य और अन्य (25 अप्रैल, 2013)		95		2083	14	653
8.	एस. अय्यपन **बनाम** मैसर्स यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड और एक अन्य (1 जुलाई, 2013)		110		2262	7	62
9.	कमल जोरा **बनाम** उत्तराखंड राज्य और एक अन्य (1 जुलाई, 2013)		135		2242	9	396
10.	मोदीनसाब कासिमसाब कंचागर **बनाम** कर्नाटक राज्य (11 मार्च, 2013)		149		1504	4	551
11.	रामस्वरूप और एक अन्य **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य (12 मार्च, 2013)		160		–	4	64
12.	विपिन जयसवाल **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (13 मार्च, 2013)		168		1567	3	684
13.	जितेन्द्र रघुवंशी और अन्य **बनाम** बबिता रघुवंशी और एक अन्य (15 मार्च, 2013)		179		–	4	58
14.	माधव और एक अन्य **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य (3 मई, 2013)		189		–	5	615

1	2	3		4		5	
15.	धर्म पाल और अन्य **बनाम** हरियाणा राज्य और एक अन्य (18 जुलाई, 2013)	[2014] 1	201	2013	–	(2014) 3	306
16.	फैकल्टी एसोसिएशन आफ एम्स **बनाम** भारत संघ और अन्य (18 जुलाई, 2013)		224		–	(2013)11	246
17.	रामचन्द्र **बनाम** क्षेत्रीय प्रबंधक, यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड (2 अगस्त, 2013)		242		2561	12	84
18.	पंजाब राज्य **बनाम** मदन मोहन लाल वर्मा (12 अगस्त, 2013)		263		3368	14	153
19.	मधु **उर्फ** मधुरंता और एक अन्य **बनाम** कर्नाटक राज्य (28 नवम्बर, 2013)		273		–	–	–
20.	उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** महेश नारायण (6 फरवरी, 2014)		296		–	–	–
21.	बक्शीश राम और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य (12 मार्च, 2013)		309		3403	12	187
22.	मनोहर लाल शर्मा **बनाम** भारत संघ और एक अन्य (1 मई, 2013)		322		–	6	616
23.	राजस्थान राज्य **बनाम** श्रवण राम (1 मई, 2013)		329		1890	12	255

1	2	3	4	5
24.	बैंक ऑफ महाराष्ट्र **बनाम** पांडुरंग केशव गोरवार्डकर (7 मई, 2013)	[2014] 1 342	2013 –	(2013) 7 788
25.	श्याम नारायण **बनाम** राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली (15 मई, 2013)	395	2209	7 77
26.	राजस्थान राज्य **बनाम** शंभू केवट और एक अन्य (28 नवम्बर, 2013)	413	–	– –
27.	जॉन के. अब्राहम **बनाम** साइमन सी. अब्राहम और एक अन्य (5 दिसम्बर, 2013)	425	–	(2014) 2 236
28.	फखरुज़्म्मा **बनाम** झारखंड राज्य और एक अन्य (12 दिसम्बर, 2013)	432	–	– –
29.	शेरिश हरदेनिया और अन्य **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य (13 दिसंबर, 2013)	440	–	– –
30.	जोशिन्द्र यादव **बनाम** बिहार राज्य (20 जनवरी, 2014)	449	–	– –

हिंदी में संविधान – दशा एवं दृष्टि

कृष्ण गोपाल अग्रवाल*

लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में देश का संविधान उसका सर्वोच्च विधान होता है । शासन के तीनों प्रमुख आधार स्तंभों का प्रशासन, संचालन और कार्य संपादन संविधान में अंतर्विष्ट संबंधित उपबंधों के अनुसार होता है । वह देश की जनता की आशाओं और आकांक्षाओं को यथार्थ में फलीभूत करने का सबसे प्रबल और सशक्त दस्तावेज और लिखत है । वह समाज के नैतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को सौहार्दपूर्ण ढंग से अक्षुण्ण रखने की प्रत्याभूति प्रदान करता है । भारत ने अपना संविधान 26 नवंबर, 1949 को संविधान-सभा में स्वीकार किया था जो 26 जनवरी, 1950 को भारत गणराज्य में प्रवृत्त हुआ था ।

राजभाषा का प्रश्न

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 343(1) के द्वारा भारत संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी घोषित किया गया था । संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतरराष्ट्रीय रूप स्वीकार किया गया था । साथ ही अंग्रेजी भाषा को अल्पावधि के लिए भारत संघ की सह राजभाषा माना गया था । राजभाषा के संबंध में हिंदी पक्षधर और अंग्रेजी पक्षधर दो बड़े गुटों के बीच लंबे वाद-विवाद तथा गहरे मनमुटाव के बाद अंततः हिंदी समर्थकों के प्रतिनिधि स्वरूप माननीय श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी और अंग्रेजी समर्थकों के प्रतिनिधिस्वरूप माननीय गोपाल स्वामी अय्यंगर की समिति का अंतिम सुझाव मुंशी अय्यंगर सूत्र इस भाषा विवाद के समाधान के रूप में सामने आया जिसे संविधान-सभा द्वारा सर्वसम्मति से अंगीकार कर लिया गया । यही कारण था कि राजभाषा विषयक अंश संविधान में संविधान रचना के बहुत बाद के प्रक्रम पर पारित हुआ और उसे संविधान के भाग 17 में अनुच्छेद 343 से 351 के रूप में समाविष्ट किया गया । डा. बी. आर. अम्बेडकर कृत 'ड्राफ्ट कांस्ट्रीट्यूशन' में राजभाषा विषयक भाग 17 शामिल नहीं था ।

---

* अधिवक्ता, उच्चतम न्यायालय, उपाध्यक्ष एवं कुल सचिव - भारतीय अनुवाद परिषद्, नई दिल्ली ।

यह सर्वविदित है कि राजभाषा के रूप में हिंदी को अधिष्ठापित कराने में हिंदी भाषा-भाषियों के साथ-साथ अहिंदी भाषी नेताओं और विद्वानों का भी योगदान रहा । उन मनीषियों और चिंतकों में उल्लेखनीय हैं – महात्मा गांधी, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, महर्षि दयानन्द, श्री के. एम. मुंशी, विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर, राजाराम मोहन राय, सुभाष चन्द्र बोस, डा. ग्रियर्सन आदि । आडोलेन स्मैकल की निम्न उक्ति ने प्रत्येक भारतीय को निश्चय ही रोमांचित और प्रफुल्लित कर दिया था : "मैं चाहता हूं कि भारत की राजभाषा हिंदी तेरह कोहनूरों का किरीट धारणकर भारतीय रंगमंच पर अवतरित हो और मैं उसके इस रूप को अपनी आंखों से निहार सकूं ।"

राजभाषा हिंदी के विकास की कामना

राजभाषा के रूप में हिंदी के बारे में 12, 13 और 14 सितंबर, 1949 को संविधान-सभा में गहन और गंभीर वाद-विवाद हुआ था । उस बहस के पश्चात् सभापति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने समापन भाषण में राजभाषा के रूप में मुंशी अय्यंगर सूत्र के आधार पर हिंदी को अपनाए जाने के बाद राजभाषा के स्वरूप और विकास के विषय में कामना की थी । यहां हिंदी के विषय में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद के पावन उद्गारों का उल्लेख करना सर्वथा प्रासंगिक होगा उनकी कामना का उल्लेख उन्हीं के शब्दों में, "..... मेरे विचार में, हमने अपने संविधान में एक अध्याय स्वीकार किया है जिसका देश के निर्माण पर बहुत प्रभाव पड़ेगा । ..... आज पहली बार ऐसा संविधान बना है जबकि हमने अपने संविधान में एक भाषा रखी है जो संघ के प्रशासन की भाषा होगी और इस भाषा का विकास समय की परिस्थितियों के अनुसार ही होगा ।

..... अब हिंदी में खड़ी बोली का प्रचलन है । मेरे विचार में, देश की अन्य भाषाओं के संपर्क से उसका और भी विकास होगा । मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि हिंदी देश की अन्य भाषाओं से अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करेगी तो उससे उन्नति होगी, अवनति नहीं ।"*

संविधान का हिंदी पाठ

अधिकांश सभा सदस्यों की राय थी और इच्छा थी कि संविधान की रचना जनता की भाषा हिंदी में हो । वे जानते थे कि डा. बाबा साहेब अम्बेडकर

---

* संविधान सभा – वाद-विवाद से उद्धृत ।

की अध्यक्षता में संविधान प्रारूपण समिति के अधिकांश सदस्य अंग्रेजी भाषा में ही पारंगत थे, न कि हिंदी में, फिर भी अधिसंख्य सदस्य चाहते थे कि संविधान का हिंदी में अनुवाद अंग्रेजी पाठ के साथ-साथ तैयार हो तथा संविधान-सभा में साथ-साथ पारित होकर देश की जनता को जनता का सर्वोच्च विधान उसकी अपनी भाषा में मिले और गांधी जी के 'समाज दर्शन - गरीब की आंखों से आंसू पोंछकर उन्हें नए भारत में एक नए सूर्य के प्रकाश में उज्जवल, समृद्ध और सुखी जीवन मिले ।' संविधान की रचना हुई, संविधान अंग्रेजी भाषा में नियमानुसार पारित हुआ और हिंदी भारत संघ की प्रथम राजभाषा के रूप में संविधान के भाग 17 (अनुच्छेद 343 से 351) के अंतर्गत स्वीकार की गई ।

यद्यपि सभापति की इच्छा थी कि हिंदी में अनुवाद कार्य अंग्रेजी में प्रारूप संविधान पारित किए जाने के साथ-साथ संपन्न हो, फिर भी हिंदी अनुवाद अंग्रेजी में प्रारूप संविधान पारित किए जाने के बिल्कुल अंतिम चरण में ही सम्पन्न कराया जा सका । संविधान जैसे वृहत प्रलेख का हिंदी में अनुवाद करना एक विषम और दुरुह कार्य था जिसे प्रो. बालकृष्ण के अथक परिश्रम से संपन्न कराया जा सका । हिंदी-अनुवाद सम्पन्न हो जाने के बाद भी समयाभाव के कारण उसे संविधान-सभा द्वारा पारित नहीं कराया जा सका, यद्यपि उस पर हस्ताक्षर करने वालों की संख्या अंग्रेजी पाठ पर हस्ताक्षर करने वालों से अधिक थी । लेकिन तकनीकी आधार पर हिंदी-अनुवाद को प्राधिकृत संविधान की प्रास्थिति प्रदान नहीं की जा सकी । हिंदी-अनुवाद संबंधी विवेचन इसमें बाद में किया जाएगा ।

तारीख 14 सितंबर, 1946 को संविधान-सभा की नियम समिति ने डा. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में यह तय किया कि संविधान-सभा का कामकाज हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी भाषा में किया जाना चाहिए । बाद में 14 जुलाई, 1947 को 'हिंदुस्तानी' शब्द के स्थान पर 'हिंदी' शब्द रखा गया ।

हिंदी में संविधान – संविधान सभा में वाद-विवाद

अब हम अपने विवेच्य विषय पर जाते हैं और इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात करते हैं । संविधान-सभा की कार्यवाहियों और उसमें हुए वाद-विवाद के प्रकाशनों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि भारतीय संविधान-सभा द्वारा संविधान के निर्माण (अंग्रेजी में) का काम डा. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में प्रारूपण-समिति को सौंपे जाने के बाद जब संविधान का

अंग्रेजी में प्रारूप तैयार हो गया और उसके अनुच्छेदों पर दिन-प्रतिदिन संविधान-सभा में बहस होने लगी तो स्वभावतः हिंदी-प्रेमी सभासदों की ओर से यह पुरजोर आवाज उठने लगी कि संविधान का हिंदी में भी प्रारूप तैयार हो और फिर संविधान-सभा में बहस के बाद क्रमशः पारित हो । इसी संदर्भ में डा. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा हिंदी भाषा के बारे में व्यक्त विचार उल्लेखनीय हैं । उन्होंने कहा था – "प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक भाषा होनी चाहिए और वास्तव में हम अंग्रेजी को अपनी राष्ट्रभाषा नहीं बना सकते ।" इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए डा. राजेन्द्र प्रसाद ने भारत के संविधान को मौलिक रूप से अपनी ही भाषा में पारित किए जाने के बारे में अपना सुविचारित मत व्यक्त किया था – "मैं अब भी अपने मत पर दृढ़ हूं कि यदि हम अपने संविधान को मौलिक रूप में अपनी ही भाषा में पारित करें तो यह हमारे राष्ट्रीय और सम्मान के अनुकूल होगा ।"

बहस के दौरान हिंदी के प्रबल समर्थक सेठ गोविन्ददास ने अपना अकाट्य तर्क पेश किया था, "मैं व्यक्तिगत रूप से यह चाहता हूं कि संविधान मौलिक रूप से हमारी मुख्य भाषा में हो, अंग्रेजी में नहीं, जिससे हमारे भावी न्यायाधीश अपनी भाषा पर निर्भर कर सकें विदेशी भाषा पर नहीं ।"

हिंदी अनुवाद को भी पारित किए जाने की मांग

भारतीय संविधान-सभा के समक्ष तारीख 4 नवंबर, 1948 को सेठ गोविन्ददास ने पूछा था कि क्या अंग्रेजी भाषा में संविधान के अनुच्छेदों को पारित किए जाने के बाद उन्हें हिंदी-प्रारूप में पुनः सभा में रखा जाएगा । उसी दिन श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने यह जिज्ञासा ठीक ही प्रकट की थी कि जब हम अपने विधान के एक-एक खंड पर विचार करेंगे तो वह कौन सी भाषा होगी जिसमें हमारा संविधान पारित हुआ समझा जाएगा । वह चाहते थे कि जब हम विधान के खंडों पर विचार करें तो उसके एक अध्याय को समाप्त करने के पश्चात् हम उसे पुनः हिंदी में लें और प्रत्येक खंड को जिस रूप में उसे सभा ने संशोधित किया है और जैसा कि इस सभा की अनुवाद समिति ने उसका अनुवाद किया है, वैसा ही पास करें । एक उपसमिति नियुक्त करें जो खंडों और उनमें जैसा संशोधन सभा चाहती है उनसे परिचित रहें और जैसे ही वे स्वीकार कर लिए जाएं यह समिति उन खंडों का अनुवाद करें और एक अध्याय के समाप्त हो जाने के पश्चात् इन खंडों को पुनः हिंदी में सभा के समक्ष लाया जाए और वे हिंदी

में भी स्वीकृत समझे जाएं, जिससे कि कुछ काल पश्चात् जब हम पूर्णतया अंग्रेजी भाषा को हटा दें तो मूल रूप में विधान हिंदी भाषा में स्वीकृत समझा जाए और वही प्रामाणिक विधान माना जाए ।

इस पर अपनी टिप्पणी करते हुए सभापति महोदय ने सदस्यों को जानकारी दी कि हमारे पास कई अनुवाद तैयार हैं । हिंदी का अनुवाद, उर्दू का अनुवाद और हिंदुस्तानी का अनुवाद । प्रारूप के ये तीनों अनुवाद तैयार हैं । किंतु जब किसी अनुच्छेद को यह सभा अंग्रेजी में अंतिम रूप से स्वीकार कर लेगी, तब यथासंभव पूर्ण और ठीक अनुवाद हम कराएंगे और उस भाषा में कराएंगे जिसे विधान परिषद् राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए मान्यता देगी । सभापति महोदय ने सभा को वचन दिया था कि अनुवाद को हम फिर से जंचवाएंगे या दूसरा अनुवाद कराएंगे और सभा की स्वीकृति के लिए हम उस अनूदित विधान को सभा के सामने रखेंगे ।

उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट है कि उस समय तक भारत की राजभाषा कौन सी हो इस पर अंतिम निर्णय नहीं हुआ था । तब यह कैसे संभव हो सकता था कि दावेदार भाषाओं – हिंदी, हिंदुस्तानी आदि में से किसी एक में विधान के पारित अनुच्छेद का अनुवाद भी साथ-साथ अनुमोदित कर दिया जाए ।

राष्ट्रभाषा में मौलिक विधान

कुछ हिंदी प्रेमी और राष्ट्रवादी सदस्य चाहते थे कि हमारी राष्ट्रभाषा में ही यह विधान बनना चाहिए और अंग्रेजी भाषा का जो विधान बनेगा वह उसका तर्जुमा समझा जाना चाहिए । श्री आर. वी. धुलेकर ने कहा कि मैं यह प्रस्ताव रखूंगा कि जो विधान राष्ट्रभाषा में लिखा जाएगा वही विधान मौलिक समझा जाएगा । अंग्रेजी भाषा से तर्जुमा किया हुआ विधान अपनाना हमारे लिए अपमानजनक बात होगी । किसी राष्ट्र ने ऐसा अभी तक नहीं किया है । इसी क्रम में श्री अलगूराय शास्त्री ने तो सभापति महोदय को हिंदी भाषा में मौलिक विधान होने और उनका अनुवाद अंग्रेजी में होने की उनकी पिछले अधिवेशन में की गई घोषणा का स्मरण करा डाला । शास्त्री जी ने कहा कि प्रत्येक देश के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना विधान अपनी भाषा में तैयार करें । हम एक ऐसे देश के वासी हैं, जिसकी एक स्वतंत्र भाषा है तो हमारा विधान धारा-धारा करके उसी भाषा में यहां आना चाहिए । यह नहीं होना चाहिए कि हम एक विदेशी भाषा में विधान पेश करें । श्री अलगूराय शास्त्री चाहते थे कि हिंदी का

विधान ही मूल रूप देकर यहां पर चलाया जाए और अंग्रेजी का प्रारूप केवल अनुवाद के रूप में रहे । स्वयं संविधान की उद्देशिका में लिखा है कि हम भारत के लोग अपना संविधान आत्मार्पित कर रहे हैं । उनकी बात के उत्तर में सभापति महोदय ने यह मान लिया था कि हम अपनी भाषा में कांस्टीट्यूशन बना सकते हैं, और बनाएंगे ।

तत्पश्चात् 8 नवंबर, 1948 को संविधान को मौलिक रूप से राष्ट्रभाषा में ही पारित करने की वकालत का समर्थन करते हुए संविधान-सभा के माननीय सदस्य ज्ञानी गुरुमुख सिंह मुसाफिर ने कहा था कि मैं इस बात को मानने वाला हूं कि हमारा यह जो पहला कांस्टीट्यूशन है इसको राष्ट्रीय भाषा में पास करना चाहिए । यह मेरा निश्चय है और यह मेरी पक्की राय है । उनका कहना था कि मैं यह कहना चाहता हूं कि यह जो विधान है मैंने इसके सारे तर्जुमे देखे हैं । हिंदी का तर्जुमा भी देखा है और उर्दू और हिंदुस्तानी का तर्जुमा भी ।

उल्लेखनीय है कि उन दिनों भी भारतीय संविधान-सभा की सरकारी कार्यवाही के प्रतिवेदन तीन भाषाओं में प्रकाशित होते थे – अंग्रेजी, हिंदी और उर्दू । इसके पश्चात् इस मुद्दे पर चर्चा को आगे बढ़ाते हुए 9 नवंबर, 1948 को एम. सत्यनारायण ने कहा था – ''हमारा यह विधान ऊपर से बन रहा है, नीचे से, जमीन से नहीं बन रहा है । यदि हमारा विधान जमीन से बनता तो हमारा विधान पहले देशी भाषाओं में बनता.....पहले हमारा विधान सारे देश के लिए देशी भाषा में बनाना चाहिए, जिसमें उनके खाने और कपड़े का प्रबंध हो और जिसके न होने की वजह से हमने स्वराज्य मांगा । हमारे लिए बहुत ही अच्छा होगा कि हमारी देशी भाषाओं में हमारा विधान बनाया जाए और फिर उसके अंग्रेजी में या दूसरी भाषाओं में जिनसे विधान की नकल की गई है और जिनको हमें अपना विधान दिखलाना है, उनके लिए उसका अनुवाद करा दिया जाए ।'' अधिकांश सदस्यों की चाहे वे हिंदी-भाषा-भाषी थे या दूसरी भाषा-भाषी थे यही इच्छा थी कि हमारा संविधान राष्ट्रीय भाषा में पारित हो, किसी विदेशी भाषा में नहीं ।

संविधान के हिंदी में अनुवाद का प्रस्ताव

जैसाकि इसमें पहले बताया जा चुका है, संविधान-सभा में भारत संघ की राजभाषा के विषय पर 12, 13 और 14 सितंबर को काफी उत्तेजक और तीखी नोकझोंक के पश्चात् तथा कई संशोधनों पर बहुत वाद-विवाद के बाद 14 सितंबर, 1949 को अंततः मध्य मार्ग के आधार पर समझौता

हुआ और संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी का प्रस्ताव संविधान-सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया । इसी खुशी में वह दिन अर्थात् 14 सितंबर, हर वर्ष भारत में 'हिंदी दिवस' के रूप में रस्म अदाएगी के तौर पर मनाया जाता है । जैसाकि आपको विदित ही है, राजभाषा के निर्धारण के संबंध में श्री के. एम. मुंशी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । सभा के गठन से लेकर काफी समय बाद तक सदस्यों के भिन्न-भिन्न विचारों तथा सभा में लिए गए निर्णयों का वर्णन श्री के. एम. मुंशी ने 'भारतीय संविधान-सभा में राष्ट्रभाषा हिंदी' नामक लेख में किया है । उस समय संविधान को उनकी विवशताओं के कारण अंग्रेजी में ही पारित किए जाने तथा हिंदी में उसका अनुवाद शीघ्र करवाने के बारे में 14 दिसंबर, 1949 को श्री कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी ने सभापति की अनुमति से निम्नलिखित प्रस्ताव संविधान सभा के सामने रखा – ''संकल्प किया जाता है कि संविधान का अनुवाद हिंदी में करवाने और 26 जनवरी, 1950 से पूर्व अपने प्राधिकार से उसे प्रकाशित करवाने तथा भारत की ऐसी अन्य प्रमुख भाषाओं में जिन्हें हम ठीक समझें, संविधान का अनुवाद तैयार करवाने और प्रकाशन करवाने के लिए आवश्यक कदम उठाने के लिए सभापति जी को प्राधिकृत किया जाए तथा उनसे अनुरोध किया जाए ।''

इस संकल्प के पेश किए जाने के पश्चात् श्री के. एम. मुंशी ने बताया कि 1947 में श्री घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता में एक अनुवाद-समिति संविधान अनुवाद समिति – अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त, सदस्यगण : (1) न्यायमूर्ति डब्ल्यू. आर. पुराणिक, (2) श्री राहुल संस्कृत्यायन, (3) श्री मोटुरी सत्य नारायण, (4) डा. सुनीति कुमार चटर्जी, (5) श्री जयचन्द विद्यालंकार, (6) श्री यशवंत दातें, (7) श्री एम. मुजीव, (8) श्री बालकृष्ण – सचिव गठित की गई थी । उसने हिंदी प्रारूप तैयार कर दिया है । तारीख 15 मार्च, 1949 को संचालन-समिति के अनुरोध पर उस हिंदी प्रारूप का पुनरीक्षण करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति पुनरीक्षण विशेषज्ञ समिति अर्थात् अध्यक्ष – श्री घनश्याम सिंह गुप्त, सदस्यगण : (1) श्री राहुल सांस्कृत्यायन, (2) सुनीति कुमार चटर्जी, (3) श्री एम. सत्यनारायण, (4) श्री जयचन्द विद्यालंकार, (5) श्री द. ए. दांते नियुक्त की गई थी । वे भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रख्यात विद्वान् और मनीषी थे । उस समिति ने संविधान के उक्त अनुवाद का पुनरीक्षण किया ।

श्री के. एम. मुंशी ने सभापति जी से आग्रहपूर्वक कहा कि हमें हिंदी

में अनुवाद आपके प्राधिकार से प्रकाशित करवाना चाहिए । श्री एच. वी. कामथ ने इसी संदर्भ में कहा कि मैं यही महसूस करता हूं कि संविधान का हिंदी-अनुवाद संविधान के तीसरे वाचन के दौरान सदन के समक्ष आए, विशेषकर इस कारण कि कुछ ही दिन पूर्व किसी कारणवश हिंदी को भारत की राजभाषा अपनाया गया है । यदि तीसरा वाचन हिंदी-अनुवाद के बिना पारित कर दिया गया तो मेरा विचार है कि हम इस सदन के प्रति गलती करेंगे, जिसने हिंदी को संघ की राजभाषा के रूप में अपनाया है ।

संविधान के अनुवाद के बारे में बोलते हुए माननीय श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने उत्तर दिया कि "मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगता कि संविधान का हिंदी-पाठ भी इस सदन द्वारा अंगीकार कर लिया जाता । ..... आपकी यह भी इच्छा थी कि राजभाषा में भारत का संविधान सदन द्वारा पारित किया जाना चाहिए । लेकिन कुछ प्रकट कठिनाइयां थीं । राजभाषा के प्रश्न का फैसला पहले नहीं हो पाया..... श्री गुप्त की इच्छा थी कि संचालन-समिति और डा. अम्बेडकर अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा के अनुसार कोई रास्ता निकालें जिससे संविधान में ऐसा उपबंध आ जाए कि हिंदी में संविधान का अधिप्रमाणित पाठ भी है, जिसका उपयोग 15 वर्ष के बाद किया जा सकता है । आज के प्रस्ताव के अनुसार 20 या 25 वर्ष बाद भी वह अनुवाद ही रहेगा । उसमें सदन द्वारा अंगीकृत संविधान की पवित्रता नहीं होगी । वह प्रामाणिकता हमारी राजभाषा हिंदी में अनुवाद में अनुपस्थित होगी । ..... मैं डा. अम्बेडकर और प्रारूपण-समिति से अनुरोध करूंगा कि वह एक सूत्र खोज निकालें, जिससे हम एक दिन यह कह सकें कि हिंदी में जो संविधान है, उसे सदन द्वारा पारित संविधान की पवित्रता प्राप्त है, वह केवल अनुवाद नहीं है ।"

श्री गुप्त ने बताया कि संविधान के अनुवाद के लिए शब्दावली निर्धारित करनी होगी, जो हिंदी में ही नहीं बल्कि सभी प्रमुख भाषाओं के संविधान के अनुवाद करने में काम आ सके और उसमें कुछ समय लगेगा क्योंकि उसमें सबकी सहमति से ही शब्द-निर्धारित किए जाएंगे । कुछ सभासदों की, जिनमें डा. पी. एस. देशमुख का नाम उल्लेखनीय है, की इच्छा थी कि भारत के राष्ट्रपति के लिए वह तारीख घोषित करनी संभव होनी चाहिए, जिससे अंग्रेजी में संविधान निष्प्रभाव हो जाएगा और हिंदी में संविधान का ही न्यायालयों द्वारा निर्वचन किया जाएगा और अंतिम पाठ माना जाएगा । सेठ गोविन्ददास इस बात से बड़े दुःखी थे कि हिंदी में

संविधान का केवल अनुवाद हो, वह मौलिक संविधान नहीं होगा । वह चाहते थे कि हमारे संविधान का मौलिक प्रारूप हमारी राजभाषा में हो । वह श्री के. एम. मुंशी के प्रस्ताव से बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं थे ।

एक अन्य सदस्य, श्री आर. के. सिंधवा, श्री घनश्याम सिंह गुप्त और सेठ गोविन्ददास के कथन से सहमत थे कि हमारा संविधान मौलिक रूप से हिंदी में हो, लेकिन उनका कहना था कि हिंदी-अनुवाद के एक-एक खंड पर संविधान-सभा के सदस्यों को चर्चा करने और अपने विचार प्रकट करने का अधिकार होगा । उसके बिना उसे मौलिक नहीं माना जा सकता और उसमें काफी समय लग जाएगा । किंतु संविधान का हिंदी-अनुवाद भी अधिप्रमाणित अनुवाद होना चाहिए । संसद् को उस हिंदी-पाठ को पारित करने की शक्ति होनी चाहिए । इस प्रकार श्री सिंधवा ने श्री के. एम. मुंशी के प्रस्ताव का समर्थन किया । किंतु श्री के. एम. मुंशी ने कहा कि शेष थोड़े समय में यह काम संभव नहीं है और संसद् इस अनुवाद को प्राधिकृत पाठ के रूप में अनुमोदित कर सकेगी ।

संविधान-सभा के सभापति ने अनुवाद-समिति के बारे में 17 सितंबर, 1949 को संविधान-सभा को बताया कि प्रायः देश के विभिन्न भागों से आधिकारिक विद्वानों को उसमें रखा गया है और अनुवाद-समिति ने अनुवाद-कार्य में अच्छी प्रगति की है । उन्होंने बताया कि सदन में जो अनुच्छेद दिन-प्रतिदिन पारित होते जाते हैं, उनका अनुवाद भी होता जाता है । सदस्यों के बार-बार इस आग्रह पर कि संविधान हिंदी में ही पारित किया जाएगा, डा. राजेन्द्र प्रसाद ने जवाब दिया कि 'ऐसी मेरी कामना और आशय था; लेकिन वह पूरा नहीं हो पाया और वह संभव नहीं है । मैं यही कह सकता हूं । सदस्य घटना-क्रम से परिचित हैं जिनमें मुझे यह ख्याल छोड़ना पड़ा ।' संविधान-सभा के सभापति डा. राजेन्द्र प्रसाद के उक्त शब्दों से संविधान के अनुवाद बने रहने की और हिंदी में संविधान न बनने की विवशता की कहानी स्वतः झलकती है । इस प्रकार काफी वाद-विवाद और तीखे तर्क-वितर्कों के पश्चात् उपर्युक्त प्रस्ताव अंगीकार कर लिया गया और वह हिंदी- अनुवाद कोरा अनुवाद बनकर रह गया ।

संविधान (58वां) संशोधन

संविधान प्रवृत्त हो जाने के बाद भी वही कशमकश राजनेताओं और नौकरशाहों के बीच चलती रही और उस हिंदी-अनुवाद ने अनुवादरूपी केंचुली से निजात नहीं पाई । ध्यातव्य है कि संविधान के लागू होने के

पश्चात् और फिर राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित हो जाने के पश्चात् साधारण केंद्रीय विधान संसद् द्वारा पारित होकर राष्ट्रपति के प्राधिकार से राजपत्र में अधिसूचित किए जाकर उस अधिनियम के प्राधिकृत-पाठ के रूप में बनते रहे और देश में लागू होते रहे । किंतु भारत का संविधान हिंदी-अनुवाद के रूप में 1987 तक यथावत् निष्प्रभाव विधि के बल से विहीन चलता रहा, जब संसद् ने संविधान-संशोधन (58वां) अधिनियम, 1987 पारित करके संविधान के हिंदी-अनुवाद को प्राधिकृत-पाठ का स्तर प्रदान करने के लिए भारत के संविधान में एक नया भाग 22 जोड़ा ।

यह देखकर बड़ा विस्मय होता है कि 1987 में 58वें संशोधन के द्वारा पहली बार संविधान में यह प्रावधान किया गया कि इस संविधान का नाम 'भारत का संविधान' है । उक्त भाग 22 में अनुच्छेद 394क अंतःस्थापित करके राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वह इस संविधान के हिंदी-भाषा में अनुवाद को, जिस पर संविधान-सभा के सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे, जिसमें तब तक किए गए संशोधन सम्मिलित थे, तथा अंग्रेजी भाषा में किए गए इस संविधान के प्रत्येक संशोधन के हिंदी-भाषा में अनुवाद को अपने प्राधिकार से प्रकाशित कराएगा । साथ ही यह भी प्रावधान समाविष्ट किया गया कि संविधान और उसके संशोधनों के अनुवाद का वही अर्थ लगाया जाएगा, जो उसके मूल का है और यदि ऐसे अनुवाद के किसी भाग का इस प्रकार अर्थ लगाने में कोई कठिनाई उत्पन्न होती है तो राष्ट्रपति उसका उपयुक्त पुनरीक्षण कराएगा ।

इसके अतिरिक्त, उक्त अनुच्छेद के खंड (1)(क) में यह भी उपबंध किया गया कि उस अनुवाद में जिस पर संविधान-सभा के सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे, ऐसे उपांतरों के साथ जो उसे केंद्रीय अधिनियमों के हिंदी-भाषा में प्राधिकृत पाठों में अपनाई गई भाषा-शैली और शब्दावली के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक हैं प्रकाशित करवाया जाएगा । इतने वर्षों के दौरान विधि-शब्दावली की लंबी विकास-यात्रा को देखते हुए यह सर्वथा अपेक्षित और वांछनीय ही था कि संविधान के हिंदी में प्राधिकृत-पाठ में भी उसी प्रकार की एकरूप भाषा-शैली और शब्दावली हो जो देश के समस्त विधानों में है । इस प्रकार अनुच्छेद 394क के शीर्षक हिंदी-भाषा में प्राधिकृत-पाठ और उसके खंड (3) के अनुसार – इस संविधान का और इसके प्रत्येक संशोधन का इस अनुच्छेद के अधीन प्रकाशित अनुवाद, सभी प्रयोजनों के लिए उसका हिंदी-भाषा में प्राधिकृत-पाठ समझा जाएगा ।'

राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 394क के अनुसरण में अपने प्राधिकार से संविधान का हिंदी-भाषा में अनुवाद प्रकाशित कराया । 1988 में संविधान का हिंदी में प्राधिकृत-पाठ भारत के राजपत्र, असाधारण, भाग 2, खंड 1 (क) जिल्द 24, संख्यांक 7, तारीख 23 अगस्त, 1988 के पृष्ठ 289 से 481 पर प्रकाशित हुआ है । अब उक्त प्राधिकृत-पाठ के कई संस्करण (द्विभाषी – अंग्रेजी-हिंदी में) भारत सरकार के विधायी विभाग के राजभाषा खंड द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं । संविधान के प्राधिकृत-पाठ का नवीनतम संस्करण, 1996 में प्रकाशित किया गया है । यह भी द्विभाषी संस्करण है और इसमें संसद् द्वारा 1996 तक पारित संविधान संशोधन समाविष्ट हैं । अब देश के न्यायालय इसके हिंदी उपबंधों का अर्थान्वयन, निर्वचन और प्रवर्तन कर सकते हैं । निश्चय ही न्याय की भाषा के रूप में हिंदी के विकास की दिशा में यह संशोधन मील का पत्थर साबित होगा ।

संशोधन विधेयक के उद्देश्य और कारण

स्वभावतः साधारणतया देश की जनता और विशिष्टतया न्यायशास्त्र के जिज्ञासु पाठक यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि आखिर इस देश के सर्वोपरि विधान अर्थात् संविधान को देश की अपनी भाषा में मौलिक विधान के रूप में अर्थात् प्राधिकृत-पाठ के रूप में जनता के सामने लाने में इतना लंबा समय क्यों लगा । जो संशोधन संविधान में संसद् के सामने इतने वर्षों बाद 1987 में पुरःस्थापित किया गया है वही बहुत पहले भी लाया जा सकता था । हमने भी एक अन्वेषी की भांति उपर्युक्त संशोधन द्वारा संविधान में भाग 22 अंतःस्थापित किए जाने के उद्देश्यों और कारणों के कथन पर दृष्टिपात किया जो संविधान (58वां संशोधन) विधेयक, 1987 के साथ संसद् में पेश किया गया था । लेकिन उसमें इतने लंबे विलंब को न्यायोचित ठहराने वाली कोई विवशताएं या अपरिहार्य कारण दिखाई नहीं पड़े । उसमें गृह मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से मात्र यह इंगित किया गया है कि हिंदी में संविधान के प्राधिकृत पाठ की व्यापक मांग हो रही है और चूंकि विधिक प्रक्रिया में संविधान का प्रयोग सुकर बनाने के लिए संविधान का हिंदी में प्राधिकृत-पाठ होना आज्ञापक है अतः इस आशय का प्रस्ताव किया जाता है ताकि भारत के राष्ट्रपति को संविधान-सभा के सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित हिंदी में संविधान का अनुवाद अपने प्राधिकार के अधीन प्रकाशित कराने के लिए सशक्त किया जा सके ।

संविधान – अनुवाद से प्राधिकृत-पाठ तक

इस प्रकार उपर्युक्त 58वें संशोधन और उसके समावेश के लिए प्रस्तुत किए गए उद्देश्यों और कारणों के कथन के परिशीलन से एक वस्तुस्थिति उभर कर सामने आती है कि राष्ट्रपति ने इस संविधान के हिंदी में अनुवाद को जिस पर संविधान-सभा के सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे, ऐसे परिवर्तनों के साथ प्रकाशित करवा दिया है जो केंद्रीय अधिनियमों के हिंदी में प्राधिकृत-पाठों में अपनाई गई भाषा, शैली और शब्दावली के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक है, और इस संविधान का अनुवाद सभी प्रयोजनों के लिए उसकी हिंदी-भाषा में प्राधिकृत-पाठ समझा जाएगा । स्वभावतः एक विधि पाठक के नाते यह जानने की उत्सुकता हुई कि उक्त 58वें संशोधन द्वारा समाविष्ट परिवर्तनों के साथ प्राधिकृत-पाठ प्रकाशित करने के उपबंध को किस सीमा तक चरितार्थ किया गया है । इस हेतु उक्त अनुवाद और वर्तमान प्राधिकृत-पाठ का सरसरी तौर पर सर्वेक्षण किया गया । उसके परिणामस्वरूप तालिका तैयार की गई ।

अनुवाद से प्राधिकृत-पाठ तक संविधान में किए गए परिवर्तनों की, उदाहरणस्वरूप, तालिका निम्न प्रकार है –

संविधान का अनुच्छेद/ अनुसूची	अंग्रेजी शब्द/पद	अनुवाद में प्रयुक्त उपांतरित शब्द/पद	प्राधिकृत पाठ में प्रयुक्त शब्द/पद
3	Secular alteration of name	धर्मनिरपेक्ष नामों का बदलना	पंथनिरपेक्ष नामों में परिवर्तन
4	Incidental & consequential	प्रासंगिक और आनुषंगिक	आनुषंगिक और पारिणामिक
9	Persons not to be citizens	व्यक्ति नागरिक न होंगे	व्यक्तियों का नागरिक न होना
11	To regulate	विनियमन करेगी	विनियमन किया जाना
18	Abolition of title	खिताबों का अंत	उपाधियों का अंत
21	Except according to the procedure established by law	विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य प्रकार वंचित न किया जाएगा	उपाधियों का अंत विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं
21	Liberty	स्वाधीनता	स्वतंत्रता
22	Arrest	बंदीकरण	गिरफ्तारी

25	(1) Title	हक्क	हक
27	Promotion	उन्नति	अभिवृद्धि
37	Enforceable	बाध्य	प्रवर्तनीय
37	Shall not be enforceable	बाध्यता न दी जाएगी	प्रवर्तनीय नहीं होंगे
43	Wages	मजूरी	मजदूरी
46	Scheduled Tribes	आदिम जाति	अनुसूचित जनजाति
49	Objects	चीजों	वस्तुओं
55	(3) Secret ballot	गूढ़ श्लाका	गुप्त मतदान
88	As respects to House	सदन-विषयक	सदनों के बारे में
121/132/ 145	Jurisdiction (4) save in open court	क्षेत्राधिकार खुले न्यायालय में के सिवाय	अधिकारिता खुले न्यायालय में ही सुनाएगा अन्यथा नहीं
220	Restriction on practice	विधिवृत्ति करने का प्रतिषेध	विधि व्यवसाय पर निर्बंधन
37	Magistrate	दंडाधिकारी	मजिस्ट्रेट
262(1) & (2)	Complaint	फरियाद	परिवाद
351	Genius	आत्मीयता	प्रकृति
366(17)	Pension	निवृत्ति-वेतन	पेंशन
366(19)	Notice	सूचना-पत्र	सूचना
अनुसूचियां -	First, Second, 3rd etc. पहली, दूसरी, तीसरी आदि		
सातवीं अनुसूची	Police	आरक्षी	पुलिस
सातवीं अनुसूची	Will	इच्छा-पत्र	विल
सातवीं अनुसूची	Evacuee	निष्क्राम्य	निष्क्रांत

उक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि संविधान के अनुवाद से लेकर 'प्राधिकृत-पाठ' की लंबी यात्रा के दौरान निश्चय ही मनीषियों और हिंदी प्रेमियों को व्यथा पहुंची होगी, जो संविधान को प्रारंभ से ही हिंदी में मौलिक पाठ के रूप में देखना चाहते थे । तथापि, 'देर आए दुरस्त आए' की उक्ति सभी जिज्ञासुओं को अवश्यमेव संतुष्ट कर सकेगी ऐसी हमें आशा है और विश्वास भी । अब हिंदी में संविधान के प्राधिकृत-पाठ के जन

साधारण को सुलभ हो जाने के पश्चात् संविधान के शब्दों में, स्वाभिमान के साथ यह कहा जा सकता है कि सही अर्थों में 'हम भारत के लोग भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, पंथ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके नागरिकों को – सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं ।'

राहुल सांस्कृत्यायन के शब्दों में – निश्चय ही किसी देश को एकता के सूत्र में बांधने का सबसे स्थायी सुदृढ़ साधन उसकी भाषा है । सेठ गोविन्ददास कहा करते थे कि भारतीय जनतंत्र का सैद्धांतिक पक्ष बिना हिंदी के अपूर्ण है । आज हम स्वाभिमान के साथ कह सकते हैं कि हमारी भी भाषा है और हमारा संविधान हमारी भाषा में है । नेहरू जी ने संविधान-सभा में भाषा के संबंध में बोलते हुए कहा था कि गांधी जी ने हमें सिखाया कि यद्यपि अंग्रेजी एक महान भाषा है और इससे हमने काफी सीखा है किंतु कोई भी राष्ट्र किसी विदेशी भाषा के आधार पर महान नहीं बन सकता क्योंकि विदेशी भाषा जन सामान्य की भाषा नहीं हो सकती । विदेशी भाषा से हम करोड़ों लोगों को दूर तक साथ नहीं ले जा सकते ।

प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान-सभा के अध्यक्ष के पद से बोलते हुए यह ठीक आशा प्रकट की थी कि एक समय आएगा जब हमें अपनी भाषा के रूप में अंग्रेजी पर निर्भर रहना नहीं पड़ेगा और यदि आज संविधान अंग्रेजी में पारित हो जाता है तो वही संविधान का मूल रूप माना जाएगा और तब हर प्रश्न की व्याख्या के लिए उसी भाषा का संदर्भ दिया जाएगा जिसमें आज संविधान पारित होता है । मैं व्यक्तिगत रूप से यही पसंद करूंगा कि मूल-पाठ हमारी प्रधान भाषा में हो और अंग्रेजी में न हो, जिससे हमारे भावी न्यायाधीशों को अपनी भाषा पर ही निर्भर करना पड़े, एक विदेशी भाषा पर नहीं । निश्चय ही उपरोक्त संशोधन के पश्चात् हमारा संविधान हिंदी में उपलब्ध है । अतः हमारे देश के न्यायाधीश भारत की अपनी भाषा का सहारा ले सकते हैं । इससे डा. अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की संकल्पना को साकार करने में मदद मिलेगी ।

बक्शीश राम और अन्य

बनाम

पंजाब राज्य

12 मार्च, 2013

न्यायमूर्ति पी. सतशिवम और न्यायमूर्ति जगदीश सिंह खेहर

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 304-ख – दहेज मृत्यु – अपीलार्थी पति और उसके माता-पिता द्वारा मृतका को आग में जलाए जाने का अभिकथन – मृतका की माता द्वारा दिए गए साक्ष्य का अनुश्रुत पाया जाना – घटना के पूर्व की गई मांग का पूरा किया जाना – यदि साक्षी ने अपनी निजी जानकारी के आधार पर कुछ न कहा हो अपितु अनुश्रुत साक्ष्य दिया हो और साथ ही अपीलार्थियों द्वारा की गई मांग मृतका के माता-पिता ने पूरी कर दी हो, तब ऐसी स्थिति में मृतका को आग में जलाए जाने का कारण दिखाई नहीं पड़ता है, अतः अपीलार्थी दहेज मृत्यु के दोषी नहीं होंगे ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 386 – अपील न्यायालय – स्वतंत्र निर्धारण – अपील न्यायालय को विचारण न्यायालय के निर्धारण को केवल दोहराना नहीं चाहिए अपितु स्वतंत्र रूप से निर्धारण करना चाहिए अन्यथा अपील न्यायालय का विनिश्चय कायम नहीं रखा जा सकता ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 304-ख [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 113-ख] – दहेज मृत्यु – घटना के कुछ पूर्व क्रूरता करना या तंग किए जाने का साक्ष्य न होना – दहेज मृत्यु की उपधारणा का लागू न होना – उच्च न्यायालय को अपील न्यायालय की हैसियत से मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए और साक्ष्य का स्वयं निर्धारण करके उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने चाहिए तथा विचारण न्यायालय के निर्धारण को मात्र दोहराना पर्याप्त नहीं हो सकता और उच्च न्यायालय द्वारा स्वतंत्र निर्धारण न किए जाने की स्थिति में उसके विनिश्चय को कायम नहीं रखा जा सकता ।

इस मामले में मृतका का विवाह अपीलार्थी बक्शीश राम के साथ हुआ था । विवाह के डेढ़ वर्ष के पश्चात् मृतका की मृत्यु अभिकथित रूप से अभियुक्त और उसके माता-पिता द्वारा आग में जलाए जाने से हो गई । अभियुक्तों को विचारण न्यायालय द्वारा दहेज मृत्यु के अपराध का दोषी ठहराया गया । इस आदेश से व्यथित होकर अभियुक्तों द्वारा पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ में अपील फाइल की गई । अपील लंबित रहने के दौरान अभियुक्त खुशिया राम (श्वसुर) की मृत्यु हो गई और उसके विरुद्ध चल रही कार्यवाहियां उपशमित कर दी गईं । उच्च न्यायालय ने शेष दो अपीलार्थियों की ओर से फाइल की गई अपील खारिज कर दी । उच्च न्यायालय के इस आदेश से व्यथित होकर पति और उसकी माता ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय ने मृतका की माता सीबो (अभि. सा. 2) के कथन का सारांश निकाला है और विश्लेषण किया है और न्यायालय का यह समाधान हो गया है कि उसने अपीलार्थियों द्वारा मृतका को तंग किए जाने या उसके साथ दुर्व्यवहार किए जाने के संबंध में अपने साक्ष्य में अपनी निजी जानकारी के आधार पर कुछ भी नहीं कहा है बल्कि स्वीकृत रूप से उसकी जानकारी अनुश्रुत है क्योंकि इस संबंध में न्यायालय में दिया गया उसका वृत्तांत वही कुछ है जो उसके पति बिक्कर राम ने उसको बताया था । न्यायालय ने पहले ही यह मत व्यक्त किया है कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 60 के अधीन अनुश्रुत साक्ष्य स्वीकार्य नहीं है क्योंकि न्यायालय में बिक्कर राम की परीक्षा नहीं कराई गई है और अभियोजन पक्ष द्वारा ऐसा कोई भी अन्य साक्षी प्रस्तुत नहीं किया गया है जो अपीलार्थियों द्वारा मृतका के साथ दुर्व्यवहार किए जाने और उसे तंग किए जाने को साबित कर पाता । अतः दंड संहिता की धारा 304-ख के संघटक उक्त अपराध के अधीन अपीलार्थी को दोषी ठहराने के लिए अभियोजन पक्ष द्वारा साबित नहीं किए गए हैं । अन्यथा भी, चूंकि अपीलार्थियों द्वारा की गई मांग मृतका के माता-पिता द्वारा पूरी कर दी गई थी, इसलिए अपीलार्थियों के समक्ष ऐसा कोई कारण नहीं था कि वे मृतका को आग में जलाते । अन्य साक्षी अर्थात् जीत राम (अभि. सा. 3) ने भी, जो कि सौतरन का निवासी है, न्यायालय के समक्ष दिए गए अपने अभिसाक्ष्य में मृतका के साथ कोई भी दुर्व्यवहार किए जाने का कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है और न ही यह उल्लेख किया है कि इस घटना के बारे में कोई जानकारी थी । इस प्रकार, जहां तक तंग किए जाने और दुर्व्यवहार किए जाने के अभिकथन का संबंध है, इस साक्षी का साक्ष्य अपीलार्थियों के लिए लाभकारी नहीं है ।

स्वीकृततः, ऊपर उल्लिखित साक्षियों के सिवाय, अभियोजन पक्ष ने दहेज की मांग, तंग किए जाने और दुर्व्यवहार को साबित करने के लिए किसी भी साक्षी की परीक्षा नहीं की है । (पैरा 9)

उच्च न्यायालय को, प्रथम अपील न्यायालय की हैसियत से, मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए था और साक्ष्य का स्वयं निर्धारण करके उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने चाहिए थे । विचारण न्यायालय के निर्धारण को मात्र दोहराना पर्याप्त नहीं हो सकता और उच्च न्यायालय द्वारा स्वतंत्र निर्धारण न किए जाने की स्थिति में उसके विनिश्चय को कायम नहीं रखा जा सकता । (पैरा 10)

साक्ष्य अधिनियम की धारा 113-ख और दंड संहिता की धारा 304-ख का परिशीलन करने से यह दर्शित होता है कि ऐसी सामग्री होनी चाहिए जिससे कि यह पता चलता हो कि महिला की मृत्यु के कुछ पूर्व उसके साथ क्रूरता की गई थी या उसे तंग किया गया था । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि अभियोजन पक्ष को प्राकृतिक या दुर्घटनात्मक मृत्यु की संभावना से इनकार करना होगा ताकि मृत्यु 'सामान्य परिस्थितियों से अन्यथा मृत्यु' होने की परिधि के भीतर आ सके । अभियोजन पक्ष का यह कर्तव्य है कि वह यह साबित करे कि घटना के कुछ पूर्व क्रूरता की गई थी या तंग किया गया था और केवल इसी स्थिति में उपधारणा लागू होगी । जैसाकि इसके पूर्व मत व्यक्त किया गया है, यदि क्रूरता की अभिकथित घटना को अधिक समय बीत गया है तब संबंधित महिला की मानसिक स्थिति इस बात से विचलित नहीं होगी और ऐसी अवस्था में, मृत्यु को दहेज मृत्यु नहीं कहा जाएगा । स्वीकृततः वर्तमान मामले में अभियोजन पक्ष ने मृतका की माता सीबो (अभि. सा. 2) के ही साक्ष्य का भरपूर अवलंब लिया है जो कि हमारे अनुसार, एक अनुश्रुत साक्ष्य है और किसी भी स्थिति में यह अत्यंत सामान्य और स्पष्ट कथन है जिसको उपरोक्त उपबंध लागू नहीं होंगे । ऐसी परिस्थितियों में, जैसाकि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा दलील दी गई है, दुर्घटनात्मक मृत्यु से इनकार नहीं किया जा सकता है । (पैरा 13)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2004]	(2004) 11 एस. सी. सी. 291 : **सकातर सिंह और अन्य** बनाम **हरियाणा राज्य** ।	10

निर्दिष्ट निर्णय

[2010]	(2010) 1 एस. सी. सी. 108 : **अरुण कुमार शर्मा** बनाम **बिहार राज्य** ;	11
[2007]	(2007) 12 एस. सी. सी. 443 : **एम. श्रीनिवासुलु** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य** ।	12

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2009 की दांडिक अपील सं. 969.

1994 की दांडिक अपील सं. 487 (एकल न्यायपीठ) ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ के तारीख 26 मार्च, 2008 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से श्री सतिन्दर सिंह गुलाटी और सुश्री कमलदीप गुलाटी

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री वी. मधुकर, (अपर महाधिवक्ता), (सुश्री) सृजीत माथुर और कुलदीप सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति पी. सतशिवम ने दिया ।

न्या. सतशिवम – यह अपील 1994 की दांडिक अपील सं. 487 में पारित किए गए पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय, चंडीगढ़ के तारीख 26 मार्च, 2008 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ने इस मामले में के अपीलार्थियों द्वारा फाइल की गई अपील खारिज की है और अपर सेशन न्यायाधीश जालंधर द्वारा पारित किए गए तारीख 21 सितम्बर, 1994 के उस निर्णय और आदेश की पुष्टि की है जिसके द्वारा इस मामले में के अपीलार्थियों को भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'दंड संहिता' निर्दिष्ट किया गया है) की धारा 304-ख और 498-क के अधीन दोषसिद्ध किया है और उन्हें सात वर्ष का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया है ।

2. **संक्षिप्त तथ्य :**

(क) सुरिन्दर कौर (मृतका) और बक्शीश राम (अपीलार्थी सं. 1 अर्थात् अभियुक्त 1) के बीच विवाह, घटना की तारीख से डेढ़ वर्ष पूर्व हुआ था । अपीलार्थी सं. 2 (अभियुक्त 3) मृतका की सास और अभियुक्त की

माता है । खुशिया राम (अभियुक्त 2) मृतका का श्वसुर है और अभियुक्त 1 का पिता जिसकी मृत्यु उच्च न्यायालय में अपील के लंबित रहने के दौरान हो गई है ।

(ख) अभियोजन पक्षकथन के अनुसार, तारीख 6 जुलाई, 1992 को बिक्कर राम (जिसकी अब मृत्यु हो चुकी है) अर्थात् मृतका सुरिन्दर कौर का पिता अपनी पुत्री से मिलने उसके वैवाहिक गृह पर गया जहां मृतका ने उसे उसके पति अर्थात् बक्शीश राम (इस मामले में का अपीलार्थी सं. 1), खुशिया राम (मृतका का श्वसुर जिसकी अब मृत्यु हो चुकी है) मृतका की सास अर्थात् दलीप कौर (इस मामले में की अपीलार्थी सं. 2) द्वारा तंग और दुर्व्यवहार किए जाने के संबंध में बताया । मृतका ने बिक्कर राम को यह भी बताया कि उसके ससुराल वाले उसको उसके माता-पिता से और धन लाने के लिए विवश कर रहे हैं क्योंकि वे कूलर खरीदना चाहते हैं । बिक्कर राम द्वारा यह अभिकथन किया गया है कि घटना से लगभग 4 मास पूर्व मृतका को उसके माता-पिता के यहां कूलर खरीदने हेतु धन लाने के लिए भेजा गया था और उसने मृतका को इस कार्य के लिए 800/- रुपए दिए थे जो उसने सरवन सिंह से उधार लिए थे जो उसके ग्राम का निवासी है । उसने यह भी बताया कि मृतका के कहने पर उसने दो इलैक्ट्रॉनिक हारमोनियम भी दिए थे जो मृतका का भाई विदेश से लेकर आया था ।

(ग) अगले दिन अर्थात् तारीख 7 जुलाई, 1992 को लगभग 10.30 बजे अपराह्न में, परमिन्दर सिंह नाम के व्यक्ति ने बिक्कर राम को यह सूचना दी कि उसकी पुत्री को उसके ससुराल वालों ने आग में जला दिया है और उसे सिविल अस्पताल, नवांशहर में भर्ती कराया गया है । यह सुनकर, वह अपनी पत्नी सीबो (अभि. सा. 2) के साथ तुरंत सिविल अस्पताल गया जहां उन्होंने अपनी पुत्री को पूर्णतया जला हुआ पाया । पूछताछ किए जाने पर बिक्कर सिंह को ग्रामवासियों ने बताया कि उसकी पुत्री को उसके ससुरालवालों द्वारा मिट्टी का तेल डालकर आग में जलाया गया है । बिक्कर सिंह ने पुलिस को इस घटना का उल्लेख करते हुए कथन दिया । इसके कथन के आधार पर, दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 304-ख के अधीन बक्शीश राम अर्थात् मृतका का पति, खुशिया राम अर्थात् श्वसुर और दलीप कौर अर्थात् सास, के विरुद्ध पुलिस थाना बंगा में मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया । अन्वेषण के पश्चात्, मामला अपर सेशन न्यायाधीश, जालंधर के न्यायालय को सुपुर्द किया गया ।

(घ) अपर सेशन न्यायाधीश ने तारीख 21 सितम्बर, 1994 के आदेश द्वारा आरोपों में संशोधन करते हुए तीनों अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 304-ख और 498-क के अधीन दंडनीय अपराध कारित किए जाने के लिए दोषसिद्ध किया और उन्हें सात वर्ष का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया ।

(ङ) उक्त निर्णय से व्यथित होकर, तीनों अभियुक्तों ने पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष 1994 की दांडिक अपील सं. 487 फाइल की । अपील के लंबित रहने के दौरान खुशिया राम (अभियुक्त 2) की तारीख 21 जुलाई, 2006 को मृत्यु हो गई, अतः उसके विरुद्ध चल रही कार्यवाहियां उपशमित कर दी गईं । तारीख 26 मार्च, 2008 के आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय ने वर्तमान अपीलार्थियों की ओर से फाइल की गई अपील खारिज कर दी ।

(च) उक्त निर्णय और आदेश को चुनौती देते हुए, अपीलार्थियों ने विशेष इजाजत द्वारा यह अपील फाइल की है ।

3. अपीलार्थियों-अभियुक्तों की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री सतिन्दर सिंह गुलाटी और प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से विद्वान् अपर महाधिवक्ता श्री वी. मधुकर को सुना गया है ।

4. इस अपील में विचार के लिए मात्र यह प्रश्न है कि क्या अभियोजन पक्ष ने युक्तियुक्त संदेह के परे अपीलार्थियों-अभियुक्तों के विरुद्ध अपना पक्षकथन सिद्ध किया है या नहीं और क्या निचले न्यायालयों ने अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 304-ख और 498-क के अधीन दोषसिद्ध करने और उन्हें सात वर्ष का कठोर कारावास भोगने का दंडादेश देने में न्यायोचित किया है या नहीं ?

चर्चा :

5. स्वीकृततः, सुरिन्दर कौर (मृतका) बक्शीश राम (अपीलार्थी सं. 1/ अभियुक्त) के बीच विवाह घटना की तारीख से डेढ़ वर्ष पूर्व हुआ था । मृतका की माता अर्थात् सीबो (अभि. सा. 2) और ग्राम सौतरन के निवासी अर्थात् जीत राम (अभि. सा. 3) के साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि दहेज से संबंधित क्रूरता, दुर्व्यवहार और प्रपीड़न की कोई भी घटना अपीलार्थियों के विरुद्ध अभिकथित नहीं की गई है सिवाय उस घटना के जो आग में जलाने की घटना से एक दिन पहले घटित हुई थी । सबसे महत्वपूर्ण साक्षी सीबो (अभि. सा. 2) है जो कोई और नहीं अपितु मृतका की माता है

और अभियोजन पक्ष ने उसी के साक्ष्य का अवलंब लिया है । इस साक्षी के साक्ष्य में यह उल्लेख किया गया है कि उसकी पुत्री सुरिन्दर कौर (मृतका) का विवाह बक्शीश राम (अपीलार्थी सं. 1) के साथ उसकी मृत्यु के लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व हुआ था । इस साक्षी ने यह भी स्पष्ट किया है कि घटना के एक दिन पहले उसका पति (मृतका का पिता) बिक्कर राम उसकी पुत्री के घर गया । सीबो (अभि. सा. 2) का क्रूरता, दुर्व्यवहार और तंग करने के संबंध में सटीक कथन निम्न प्रकार है :–

> "..... उसने मुझे यह बताया कि कम दहेज लाने के कारण हमारी पुत्री सुरिन्दर कौर को अभियुक्तों द्वारा तंग किया जा रहा है और उसके साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है । मेरी पुत्री अपनी मृत्यु के लगभग 15 दिन पूर्व अपने पति बक्शीश राम के साथ हमारे घर आई थी और वह हारमोनियम मांग रहीं थी जो उसका भाई विदेश से लाया था । मेरी पुत्री के कहने पर दोनों हारमोनियम उसे दे दिए गए । मेरी पुत्री ने कूलर दिए जाने की भी मांग की । उसने ये मांगें अपने पति, सास और श्वसुर के कहने पर ही की थीं । हमने कूलर तो नहीं दिया किन्तु हमने अपने ग्राम के रहने वाले सरवन सिंह से 800/- रुपए उधार लेकर अपनी पुत्री को दिए ।"

6. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री सतिन्दर सिंह गुलाटी ने यह दलील दी है कि अभि. सा. 2 के साक्ष्य का प्रथम भाग अनुश्रुत साक्ष्य से संबंधित है अर्थात् अभि. सा. 2 ने वह अभिसाक्ष्य दिया है जो उसके पति बिक्कर राम ने उसे बताया था और उसके साक्ष्य का शेष भाग साधारण और अस्पष्ट कथन है । यह सत्य है कि उसके कथन के प्रथम भाग से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि उसको उसकी पुत्री से कोई भी निजी जानकारी, सूचना या इत्तिला नहीं मिली थी किन्तु कम दहेज लाने से संबंधित अभिकथित प्रपीड़न और दुर्व्यवहार की जानकारी उसके पति बिक्कर राम से मिली थी । स्वीकृततः साक्ष्य की तारीख को, बिक्कर राम उपलब्ध नहीं था क्योंकि साक्ष्य अभिलिखित किए जाने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो चुकी थी । भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (जिसे संक्षेप में 'साक्ष्य अधिनियम' कहा गया है) की धारा 60 के अनुसार मौखिक साक्ष्य प्रत्यक्ष होना चाहिए यदि इसका संबंध ऐसे तथ्य से हो जिसे सुना जा सकता हो, यह ऐसे साक्षी का साक्ष्य होना चाहिए जो यह कहता हो कि उसने इस साक्ष्य को सुना है । हमने पहले ही सीबो (अभि. सा. 2) के वास्तविक कथन से जो निष्कर्ष निकाला है उसमें इस साक्षी ने यह

स्वीकार किया है कि उसने उपरोक्त अभिकथन को अपने पति से सुना था और इस कथन की संपुष्टि नहीं की जा सकी है । बहुत से बहुत उसका कथन मात्र अनुश्रुत साक्ष्य है और किसी भी अन्य साक्ष्य के अभाव में संपुष्टि न किए जाने पर, मात्र इस साक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती है ।

7. यह स्वाभाविक है कि मृतका की माता होने के नाते यदि उसने ऐसा प्रपीड़न या दुर्व्यवहार देखा होता तो वह अपने साक्ष्य में उसका उल्लेख कर सकती थी । स्वीकृततः, इस साक्षी ने प्रपीड़न और दुर्व्यवहार से संबंधित ऐसी किसी भी शिकायत का न तो प्रकथन किया है और न ही वर्णन किया है जो उसकी पुत्री ने उससे की हो । अपने कथन के पश्चात्वर्ती भाग में सीबो (अभि. सा. 2) ने यह कथन किया है कि मृतका घटना की तारीख के 15 दिन पूर्व उनके घर पर अपने पति के साथ आई थी और जब मृतका ने हारमोनियम के बारे में पूछा, जो उसका भाई विदेश से लाया था, तब सीबो ने दोनों हारमोनियम मृतका को दे दिए और इससे यह दर्शित होता है कि पुत्री द्वारा की गई मांग पूरी की जा चुकी थी । अभि. सा. 2 के साक्ष्य से यह भी सामने आया है कि उसकी पुत्री ने अपने ससुराल वालों द्वारा दबाव डाले जाने पर कूलर खरीदने के लिए धन की भी मांग की थी । इस मांग को पूरा करने के लिए, अभि. सा. 2 ने यह कथन किया है कि उसने अपने ग्राम के रहने वाले सरवन सिंह से 800/- रुपए उधार लिए थे और उसने वह धन अपनी पुत्री को दे दिया था । इस बात से, जैसा कि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा ठीक ही इंगित किया गया है, अपीलार्थियों द्वारा की गई मांग मृतका के माता-पिता द्वारा पूरी कर दी गई थी, अतः उनके द्वारा मृतका को आग में जलाने का कोई भी कारण नहीं रह जाता है ।

8. सीबो (अभि. सा. 2) के एकमात्र साक्ष्य का मूल्यांकन करने के लिए दंड संहिता की धारा 304-ख के अधीन 'दहेज मृत्यु' की परिभाषा को निर्दिष्ट करना महत्वपूर्ण होगा जो निम्न प्रकार है :–

> "**धारा 304-ख – दहेज मृत्यु** – (1) जहां किसी स्त्री की मृत्यु किसी दाह या शारीरिक क्षति द्वारा कारित की जाती है या उसके विवाह के सात वर्ष के भीतर सामान्य परिस्थितियों से अन्यथा हो जाती है और यह दर्शित किया जाता है कि उसकी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व उसके पति ने या उसके पति के किसी नातेदार ने, दहेज की किसी मांग के लिए, या उसके संबंध में, उसके साथ क्रूरता की थी

या उसे तंग किया था वहां ऐसी मृत्यु को दहेज मृत्यु कहा जाएगा और ऐसा पति या नातेदार उसकी मृत्यु कारित करने वाला समझा जाएगा ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा के प्रयोजन के लिए 'दहेज' का वही अर्थ है जो दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1961 (1961 का 28) की धारा 2 में है ।

(2) जो कोई दहेज मृत्यु कारित करेगा वह कारावास से, जिसकी अवधि सात वर्ष से कम की नहीं होगी किन्तु जो आजीवन कारावास तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा ।"

धारा 304-ख के परिशीलन से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि यदि किसी विवाहित महिला की सामान्य परिस्थितियों से अन्यथा उसके विवाह के सात वर्षों के भीतर मृत्यु हो जाती है और यह दर्शित होता है कि उसकी मृत्यु के कुछ पूर्व उसके पति या उसके पति के किसी नातेदार द्वारा दहेज की किसी भी मांग के संबंध में उसके साथ क्रूरता की गई है या उसे तंग किया गया है तब ऐसी मृत्यु को दहेज मृत्यु कहा जाएगा और ऐसे पति या नातेदार को मृत्यु कारित करने वाला समझा जाएगा । इस धारा के अधीन अपराध सिद्ध करने के लिए आवश्यक शर्तें निम्न प्रकार हैं :–

"(क) विवाहित महिला की मृत्यु सामान्य परिस्थितियों से अन्यथा हुई हो ;

(ख) ऐसी मृत्यु उसके विवाह के सात वर्षों के भीतर हुई हो ; और

(ग) अभियोजन पक्ष ने यह सिद्ध कर दिया हो कि उसकी मृत्यु के कुछ पूर्व दहेज की मांग को लेकर उसके साथ क्रूरता की गई हो और उसे तंग किया गया हो ।"

यह धारा उस स्थिति में लागू होगी जब मृत्यु के पूर्व पति या ससुराल वालों द्वारा दहेज के लिए पत्नी के साथ क्रूरता की गई हो या उसे तंग किया गया हो और मृत्यु अप्राकृतिक परिस्थितियों में हुई हो । इस धारा का आशय पति या ससुराल वालों को दोषी ठहराना है भले ही उन्होंने वास्तव में मृत्यु कारित न की हो ।

9. हमने पहले ही मृतका की माता सीबो (अभि. सा. 2) के कथन का सारांश निकाला है और विश्लेषण किया है और हमारा यह समाधान

हो गया है कि उसने अपीलार्थियों द्वारा मृतका को तंग किए जाने या उसके साथ दुर्व्यवहार किए जाने के संबंध में अपने साक्ष्य में अपनी निजी जानकारी के आधार पर कुछ भी नहीं कहा है बल्कि स्वीकृत रूप से उसकी जानकारी अनुश्रुत है क्योंकि इस संबंध में न्यायालय में दिया गया उसका वृत्तांत वही कुछ है जो उसके पति बिक्कर राम ने उसको बताया था । हमने पहले ही यह मत व्यक्त किया है कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 60 के अधीन अनुश्रुत साक्ष्य स्वीकार्य नहीं है क्योंकि न्यायालय में बिक्कर राम की परीक्षा नहीं कराई गई है और अभियोजन पक्ष द्वारा ऐसा कोई भी अन्य साक्षी प्रस्तुत नहीं किया गया है जो अपीलार्थियों द्वारा मृतका के साथ दुर्व्यवहार किए जाने और उसे तंग किए जाने को साबित कर पाता । अतः दंड संहिता की धारा 304-ख के संघटक उक्त अपराध के अधीन अपीलार्थी को दोषी ठहराने के लिए अभियोजन पक्ष द्वारा साबित नहीं किए गए हैं । अन्यथा भी, चूंकि अपीलार्थियों द्वारा की गई मांग मृतका के माता-पिता द्वारा पूरी कर दी गई थी, इसलिए अपीलार्थियों के समक्ष ऐसा कोई कारण नहीं था कि वे मृतका को आग में जलाते । अन्य साक्षी अर्थात् जीत राम (अभि. सा. 3) ने भी, जो कि सौतरन का निवासी है, न्यायालय के समक्ष दिए गए अपने अभिसाक्ष्य में मृतका के साथ कोई भी दुर्व्यवहार किए जाने का कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया है और न ही यह उल्लेख किया है कि इस घटना के बारे में कोई जानकारी थी । इस प्रकार, जहां तक तंग किए जाने और दुर्व्यवहार किए जाने के अभिकथन का संबंध है, इस साक्षी का साक्ष्य अपीलार्थियों के लिए लाभकारी नहीं है । स्वीकृततः, ऊपर उल्लिखित साक्षियों के सिवाय, अभियोजन पक्ष ने दहेज की मांग, तंग किए जाने और दुर्व्यवहार को साबित करने के लिए किसी भी साक्षी की परीक्षा नहीं की है ।

10. उच्च न्यायालय को, प्रथम अपील न्यायालय की हैसियत से, मामले के तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए था और साक्ष्य का स्वयं निर्धारण करके उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने चाहिए थे । विचारण न्यायालय के निर्धारण को मात्र दोहराना पर्याप्त नहीं हो सकता और उच्च न्यायालय द्वारा स्वतंत्र निर्धारण न किए जाने की स्थिति में उसके विनिश्चय को कायम नहीं रखा जा सकता । इस न्यायालय द्वारा ऐसा ही मत **सकातर सिंह और अन्य** बनाम **हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में दोहराया गया है ।

---

[1] (2004) 11 एस. सी. सी. 291.

11. **अरुण कुमार शर्मा** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में उपरोक्त मत को दोहराते हुए इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उच्च न्यायालय की अपनी अपीली अधिकारिता में मामले के सभी तथ्यों को उच्च न्यायालय के समक्ष रखा गया था, अतः उच्च न्यायालय से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह साक्ष्य पर गहराई से विचार करता और विशेषकर अभिलेख तथा साबित किए गए दस्तावेजों पर । उपरोक्त सिद्धांत के प्रतिकूल हमारा यह समाधान हो गया है कि वर्तमान मामले में, उच्च न्यायालय मामले के अभिलेख और साक्षियों के साक्ष्य पर गहराई से विचार करने में असफल रहा है । दांडिक अपील के मामले में अपील न्यायालय की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है और तथ्य के सभी प्रश्न अपील न्यायालय के समक्ष विचार के लिए रखे जाते हैं । विचारण न्यायालय के निर्णय की पुष्टि करते समय उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा तरीका नहीं अपनाया गया है ।

12. हमने दंड संहिता की धारा 304-ख और उसके आवश्यक संघटकों पर पहले ही विचार किया है । साक्ष्य अधिनियम की धारा 113-ख भी वर्तमान मामले में सुसंगत है । दंड संहिता की धारा 304-ख और साक्ष्य अधिनियम की धारा 113-ख दोनों ही दहेज प्रतिषेध (संशोधन) अधिनियम, 1986 (1986 का 43) द्वारा इस आशय से निगमित किए गए हैं कि दहेज मृत्यु की बढ़ती हुई बुराई को रोका जा सके । साक्ष्य अधिनियम की धारा 113-ख निम्न प्रकार है :–

> "**113-ख – दहेज मृत्यु के बारे में उपधारणा** – जब प्रश्न यह है कि किसी व्यक्ति ने किसी स्त्री की दहेज मृत्यु की है और यह दर्शित किया जाता है कि मृत्यु के कुछ पूर्व ऐसे व्यक्ति ने दहेज की किसी मांग के लिए या उसके संबंध में उस स्त्री के साथ क्रूरता की थी या उसको तंग किया था तो न्यायालय यह उपधारणा करेगा कि ऐसे व्यक्ति ने दहेज मृत्यु कारित की थी ।
>
> **स्पष्टीकरण** – इस धारा के प्रयोजनों के लिए 'क्रूरता' का वही अर्थ है जो भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) की धारा 498-क में है ।"

---

[1] (2010) 1 एस. सी. सी. 108.

दंड संहिता की धारा 304-ख में दहेज मृत्यु की परिभाषा और साक्ष्य अधिनियम की प्रकल्पित धारा 113-ख की भाषा के अनुसार दोनों उपबंधों में एक महत्वपूर्ण संघटक यह है कि संबंधित महिला के साथ, 'उसकी मृत्यु के कुछ पूर्व' दहेज की मांग के लिए या मांग के संबंध में उसके साथ अवश्य ही क्रूरता की गई हो या उसे तंग किया गया हो । इन उपबंधों पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने **एम. श्रीनिवासुलु** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस प्रकार मत व्यक्त किया है :–

> ".....निम्न आवश्यक बातों के साबित होने के आधार पर ही उपधारणा की जाएगी –
>
> (1) न्यायालय के समक्ष इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या अभियुक्त ने किसी महिला की दहेज मृत्यु कारित की है (इसका अर्थ हुआ कि उपधारणा केवल तब की जा सकती है जब अभियुक्त का विचारण दंड संहिता की धारा 304-ख के अधीन किया जा रहा हो) ।
>
> (2) महिला के साथ उसके पति या पति के नातेदारों द्वारा क्रूरता की गई हो या उसे तंग किया गया हो ।
>
> (3) ऐसी क्रूरता या तंग किया जाना दहेज की किसी भी मांग के संबंध में हो ।
>
> (4) ऐसी क्रूरता या तंग किया जाना उस महिला की मृत्यु के कुछ पूर्व हो ।'

13. जैसाकि ऊपर चर्चा की गई है, साक्ष्य अधिनियम की धारा 113-ख और दंड संहिता की धारा 304-ख का परिशीलन करने से यह दर्शित होता है कि ऐसी सामग्री होनी चाहिए जिससे कि यह पता चलता हो कि महिला की मृत्यु के कुछ पूर्व उसके साथ क्रूरता की गई थी या उसे तंग किया गया था । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि अभियोजन पक्ष को प्राकृतिक या दुर्घटनात्मक मृत्यु की संभावना से इनकार करना होगा ताकि मृत्यु 'सामान्य परिस्थितियों से अन्यथा मृत्यु' होने की परिधि के भीतर आ सके । अभियोजन पक्ष का यह कर्तव्य है कि वह यह साबित करे कि घटना

---

[1] (2007) 12 एस. सी. सी. 443.

के कुछ पूर्व क्रूरता की गई थी या तंग किया गया था और केवल इसी स्थिति में उपधारणा लागू होगी । जैसाकि इसके पूर्व मत व्यक्त किया गया है, यदि क्रूरता की अभिकथित घटना को अधिक समय बीत गया है तब संबंधित महिला की मानसिक स्थिति इस बात से विचलित नहीं होगी और ऐसी अवस्था में, मृत्यु को दहेज मृत्यु नहीं कहा जाएगा । स्वीकृततः वर्तमान मामले में अभियोजन पक्ष ने मृतका की माता सीबो (अभि. सा. 2) के ही साक्ष्य का भरपूर अवलंब लिया है जो कि हमारे अनुसार, एक अनुश्रुत साक्ष्य है और किसी भी स्थिति में यह अत्यंत सामान्य और स्पष्ट कथन है जिसको उपरोक्त उपबंध लागू नहीं होंगे । ऐसी परिस्थितियों में, जैसाकि अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा दलील दी गई है, दुर्घटनात्मक मृत्यु से इनकार नहीं किया जा सकता है ।

14. एक अन्य सुसंगत पहलू जिस पर विचार किया जाना चाहिए, यह है कि मृतका का पति अर्थात् अपीलार्थी सं. 1 ही मृतका को अस्पताल लेकर गया था और उसी ने पुलिस तथा मृतका के माता-पिता को सूचना दी थी । यह बात भी हमारी जानकारी में लाई गई है कि अपीलार्थी ने घटनास्थल से भागने का प्रयास नहीं किया था ।

15. उपरोक्त चर्चा को दृष्टिगत करते हुए, हमारा यह समाधान हो गया है कि अभियोजन पक्ष युक्तियुक्त संदेह के परे दोषसिद्ध करने में असफल रहा है और विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने अपीलार्थियों को दोषसिद्ध करने में गलती की है और उनके आदेश अपास्त किए जाने योग्य हैं । चूंकि, अपीलार्थी सं. 1 पहले ही सात वर्ष का दंडादेश भोग चुका है, इसलिए कोई भी निदेश किए जाने की आवश्यकता नहीं है । तथापि, चूंकि अपीलार्थी सं. 2 जमानत पर है, उसके जमानतपत्र उन्मोचित किए जाते हैं । अपील मंजूर की जाती है ।

अपील मंजूर की गई ।

अस.

मनोहर लाल शर्मा

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

1 मई, 2013

न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा, न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर और न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ

विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम, 1999 – धारा 6(3) और 47 [सपठित विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) विनियम, 2000 तथा विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) (तृतीय संशोधन) विनियम, 2012] – सरकार द्वारा बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात करने की नीति – नीति की प्रभावकारिता के आधार पर न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप – चूंकि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति केवल एक समर्थकारी नीति है और राज्य सरकारें/संघ राज्यक्षेत्र बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात करने या न करने के लिए स्वतंत्र हैं इसलिए न्यायालय ऐसी नीति के गुणागुण की परीक्षा करने के लिए स्वतंत्र नहीं है और न्यायालय किसी सरकारी नीति में तब तक हस्तक्षेप नहीं करता है जब तक कि वह असांविधानिक या कानूनी उपबंधों के प्रतिकूल या मनमानी या अतर्कसंगत न हो या उसके द्वारा शक्ति का दुरुपयोग न किया गया हो ।

प्रस्तुत मामले में याची ने तारीख 20 सितम्बर, 2012 के प्रेस टिप्पण सं. 4, 5, 6, 7 और 8 (2012 शृंखला) को अभिखंडित करने की प्रार्थना की है क्योंकि वे असांविधानिक और विधि के किसी प्राधिकार के बिना हैं । इन प्रेस टिप्पणों द्वारा एकल-ब्रांड उत्पाद फुटकर व्यापार, बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार, वायु परिवहन सेवाओं, प्रसारण वहन सेवाओं और विद्युत केन्द्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ. डी. आई.) नीति का पुनर्विलोकन किया गया है । अग्रेषण परिपत्र के पैरा 5 में यह उल्लेख किया गया है कि विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) विनियम, 2000 में आवश्यक संशोधनों को पृथक् रूप से अधिसूचित किया जा रहा है । जब मामला विचारार्थ उद्भूत हुआ तब

विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी कि भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा 2000 के विनियमों में आवश्यक संशोधन किए जाने की प्रक्रिया जारी है और यह कि 2000 के विनियमों में आवश्यक संशोधन शीघ्र ही किए जाएंगे । इसके पश्चात् विद्वान् महाधिवक्ता ने भारत के राजपत्र में प्रकाशित विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) (तृतीय संशोधन) विनियम, 2012 की एक प्रति न्यायालय के समक्ष विचारार्थ रखी । भारतीय रिजर्व बैंक ने विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम, 1999 की धारा 6 की उपधारा (3) के खंड (ख) और धारा 47 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए 2012 के विनियमों द्वारा 2000 के विनियमों में संशोधन किए हैं । 2012 के विनियमों को कोई चुनौती दिए जाने के अभाव में याची की इस दलील की संवीक्षा करने की कोई गुंजाइश नहीं रही है कि प्रेस टिप्पण सं. 4, 5, 6, 7 और 8 (2012 शृंखला) में विधि का बल नहीं है । याची और मध्यक्षेपी की ओर से यह दलील दी गई है कि आक्षेपित प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति सरकारी अभिकरण से प्राप्त किसी सामग्री पर आधारित नहीं है और आक्षेपित नीति तैयार करने से पूर्व कोई विस्तृत परामर्श नहीं किया गया था । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – आक्षेपित प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति केवल समर्थकारी नीति है और राज्य सरकारें/संघ राज्यक्षेत्र, स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस नीति को कार्यान्वित करने के संबंध में अपने विनिश्चय करने के लिए स्वतंत्र हैं । अतः, यह राज्य सरकारों/संघ राज्यक्षेत्रों के विकल्प पर छोड़ा जाता है कि वे बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक एफ. डी. आई. अनुज्ञात करने के लिए नीति को कार्यान्वित करें अथवा नहीं । (पैरा 13)

किसी सरकारी नीति की प्रभावकारिता के संबंध में मत और वे, उद्देश्य, जो ऐसी नीति द्वारा पूरे किए जाने ईप्सित हैं, भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । इन प्रतिकूल मतों में कुछ गुणवत्ता हो सकती है किन्तु हमारे संविधान के अधीन कार्यपालिका को सरकारी नीति तैयार करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व सौंपा गया है । कार्यपालिक कृत्य में नीति का निर्धारण तथा उसका निष्पादन दोनों ही समाविष्ट होते हैं । यदि वर्तमान सरकार सम्यक् चिन्तन, सोच-समझ और विचार-विमर्श के पश्चात् यह महसूस करती है कि बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात करने से देश की अर्थव्यवस्था में वृद्धि होगी और इससे माल के उत्पादक के लिए बाजार की बेहतर पहुंच सुकर बनेगी और नियोजन की संभावनाएं

बढ़ेंगी तो न्यायालय ऐसी नीति के गुणागुण की परीक्षा नहीं कर सकता है । नीति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले विषयों के संबंध में यह न्यायालय तब तक हस्तक्षेप नहीं करता है जब तक कि वह नीति असांविधानिक या कानूनी उपबंधों के प्रतिकूल या मनमानी या असंगत न हो या वह शक्ति का दुरुपयोग करके न बनाई गई हो । आक्षेपित नीति, जो बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुज्ञा देती है, इनमें किसी भी दोष से ग्रस्त प्रतीत नहीं होती है । (पैरा 14 और 15)

औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग को कार्य आबंटन नियम, 1961 के अनुसार "प्रवासी भारतीय कार्य मंत्रालय को सौंपे गए कृत्यों को छोड़कर औद्योगिक और सेवा परियोजनाओं में प्रत्यक्ष विदेशी और अनिवासी निवेश" का विषय आबंटित किया गया है । इस दृष्टि से औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के संबंध में नीति संबंधी घोषणाएं करने के लिए सशक्त है । किसी अनिवासी इकाई/भारत के बाहर निवासी व्यक्ति द्वारा किसी भारतीय कंपनी की पूंजी में निवेश करने से संबंधित नीति बनाने संबंधी केन्द्रीय सरकार की सक्षमता संदेह से परे है । भारतीय रिजर्व बैंक को भारत में विभिन्न प्रकार के विदेशी मुद्रा संव्यवहारों को, जिसमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भी है, आवश्यक विनियमों के माध्यम से प्रतिषिद्ध, निर्बंधित या विनियमित करने की शक्ति प्राप्त है । भारतीय रिजर्व बैंक भारत में विदेशी निवेश को भारत सरकार की नीति के अनुसार विनियमित करता है । (पैरा 16)

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2012 की रिट याचिका (सिविल) सं. 417.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री जी. ई. वाहनवती, महाधिवक्ता, सिद्धार्थ लूथरा, अपर महासालिसिटर, अनुपम प्रसाद, (सुश्री) सुप्रिया जुनेजा, नीतम पाशा, जे. नरूला (पी. कृष्ण प्रसाद की ओर से), विक्रमजीत बनर्जी, पी. एस. सुधार, एस. एस. शमशेरी, आर. सी. कोहली और मनोहर लाल शर्मा, याची स्वयं

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा ने दिया ।

न्या. लोढा – हमने श्री मनोहर लाल शर्मा-याची की व्यक्तिगत रूप से और विद्वान् महाधिवक्ता श्री गुलाम ई. वाहनवती को सुना । हमने 2012 की अंतर्वर्ती अपील सं. 2 में मध्यक्षेपी – स्वदेशी जागरण फाउंडेशन की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री विक्रमजीत बनर्जी को भी सुना ।

2. श्री मनोहर लाल शर्मा-स्वयं याची ने प्रत्युत्तर-शपथपत्र को उसमें अंतर्विष्ट आक्षेपणीय कथनों के कारण समग्र रूप से वापस लेने की प्रार्थना की । हम उसे ऐसा करने के लिए अनुज्ञात करते हैं । यह निदेश दिया जाता है कि प्रत्युत्तर-शपथपत्र के किसी भाग को अभिलेख के भाग के रूप में नहीं माना जाएगा ।

3. याची ने रिट याचिका में तारीख 20 सितम्बर, 2012 के प्रेस टिप्पण सं. 4, 5, 6, 7 और 8 (2012 शृंखला) को अभिखंडित करने की प्रार्थना की है क्योंकि वे असांविधानिक और विधि के किसी प्राधिकार के बिना हैं ।

4. इन प्रेस टिप्पणों द्वारा एकल-ब्रांड उत्पाद फुटकर व्यापार, बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार, वायु परिवहन सेवाओं, प्रसारण वहन सेवाओं और विद्युत केन्द्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ. डी. आई.) नीति का पुनर्विलोकन किया गया है । अग्रेषण परिपत्र के पैरा 5 में यह उल्लेख किया गया है कि विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) विनियम, 2000 (जिन्हें संक्षेप में "2000 के विनियम" कहा गया है) में आवश्यक संशोधनों को पृथक् रूप से अधिसूचित किया जा रहा है ।

5. जब मामला तारीख 15 अक्तूबर, 2012 को विचारार्थ उद्भूत हुआ तब विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी कि भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा 2000 के विनियमों में आवश्यक संशोधन किए जाने की प्रक्रिया जारी है और यह कि 2000 के विनियमों में आवश्यक संशोधन शीघ्र ही किए जाएंगे ।

6. तारीख 5 नवम्बर, 2012 को, विद्वान् महाधिवक्ता ने भारत के राजपत्र असाधारण में तारीख 30 अक्तूबर, 2012 को प्रकाशित विदेशी मुद्रा प्रबंध (भारत के बाहर निवासी किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिभूति का अंतरण या निर्गमन) (तृतीय संशोधन) विनियम, 2012 (जिन्हें संक्षेप में "2012 के विनियम" कहा गया है) की एक प्रति न्यायालय के समक्ष विचारार्थ रखी ।

7. भारतीय रिजर्व बैंक ने विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम, 1999 (जिसे

संक्षेप में "फेमा" कहा गया है) की धारा 6 की उपधारा (3) के खंड (ख) और धारा 47 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए 2012 के विनियमों द्वारा 2000 के विनियमों में संशोधन किए हैं ।

8. 2012 के विनियमों को कोई चुनौती नहीं दी गई है । 2012 के विनियमों को कोई चुनौती दिए जाने के अभाव में याची की इस दलील की संवीक्षा करने की कोई गुंजाइश नहीं रही है कि तारीख 20 सितम्बर, 2012 के प्रेस टिप्पण सं. 4, 5, 6, 7 और 8 (2012 शृंखला) में विधि का बल नहीं है ।

9. चाहे जैसी भी स्थिति हो, हमने याची और मध्यक्षेपी की इन दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है कि आक्षेपित प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति सरकारी अभिकरण से प्राप्त किसी सामग्री पर आधारित नहीं है और आक्षेपित नीति तैयार करने से पूर्व कोई विस्तृत परामर्श नहीं किया गया था ।

10. भारत संघ द्वारा फाइल किए गए प्रति-शपथपत्र में बहु-ब्रांड फुटकर में एफ. डी. आई. के फायदों को प्रगणित किया गया है । आक्षेपित एफ. डी. आई. नीति के दो उद्देश्य हैं, (एक) अधिक सस्ती कीमतों पर क्रय करने के विकल्प को विस्तारित करके उपभोक्ता को फायदा पहुंचाना; और (दो) माल के उत्पादक के लिए बाजार तक बेहतर पहुंच (अंतिम फुटकर विक्रेता) सुकर बनाने के लिए पारंपरिक व्यापार मध्यवर्तियों/बिचौलियों को समाप्त करना ।

11. यह कथन किया गया है कि संशोधित एफ. डी. आई. नीति से नियोजन का सृजन होगा, आधारभूत सुविधाओं में सुधार होगा और बेहतर क्वालिटी के उत्पाद उपलब्ध होंगे । संगठित फुटकर विक्रेता को सीधे विक्रय करने के विकल्प से किसानों को पर्याप्त फायदा पहुंचेगा । केन्द्रीय सरकार ने इस संबंध में विश्व बैंक द्वारा कराए गए उस अध्ययन का अवलंब लिया है जिससे यह उपदर्शित होता है कि संगठित फुटकर विक्रेताओं को सीधे विक्रय करने से किसानों की लाभ प्राप्ति मंडी में विक्रय करने से प्राप्त लाभ प्राप्ति से लगभग 60 प्रतिशत उच्चतर है । विश्व बैंक द्वारा कराए गए अध्ययन में व्यक्त मतों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्हें भारत सरकार द्वारा भारतीय अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संबंध अनुसंधान परिषद् (आई. सी. आर. आई. ई. आर.) के माध्यम से "असंगठित क्षेत्र पर संगठित फुटकर विक्रय का प्रभाव" विषय पर किए गए अध्ययन के संबंध में

मई, 2008 में प्रस्तुत किए गए निष्कर्षों से समर्थन प्राप्त होता है । आई. सी. आर. आई. ई. आर. की रिपोर्ट के अनुसार असंगठित और संगठित फुटकर विक्रय न केवल एक-साथ विद्यमान रहते हैं बल्कि वे आकार में भी पर्याप्त रूप से बढ़ते हैं ।

12. बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार के संबंध में एफ. डी. आई. नीति के विशेष लक्षण प्रति-शपथपत्र में भी उपदर्शित किए गए हैं । इस नीति में यह आदिष्ट है कि क्रय किए गए विनिर्मित/प्रसंस्कृत उत्पादों के उपापन के मूल्य का कम से कम 30 प्रतिशत ऐसे भारतीय लघु उद्योगों में से लिया जाएगा जिनका संयंत्र और मशीनरी में कुल निवेश 10 लाख अमरीकी डालर से अधिक नहीं है । इसमें यह भी उपबंधित है कि फुटकर विक्रय केन्द्र केवल उन शहरों में स्थापित किए जा सकेंगे जिनकी जनसंख्या 2011 की जनगणना के अनुसार 10 लाख से अधिक है और वे इन शहरों की नगरपालिक/नगर बस्तियों के चारों ओर 10 किलोमीटर के क्षेत्र के अंतर्गत स्थापित किए जा सकेंगे । उन राज्यों/संघ-राज्यक्षेत्रों में, जिनमें 2011 की जनगणना के अनुसार 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहर नहीं हैं, वहां उनके विकल्पानुसार शहरों में, अधिमानतः सबसे बड़े शहर में फुटकर विक्रय केन्द्र स्थापित किए जा सकेंगे और वे इन शहरों की नगरपालिक/नगर बस्तियों के चारों ओर 10 किलोमीटर के क्षेत्र के अंतर्गत स्थापित किए जा सकेंगे ।

13. हम यह पाते हैं कि आक्षेपित नीति केवल समर्थकारी नीति है और राज्य सरकारें/संघ राज्यक्षेत्र, स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस नीति को कार्यान्वित करने के संबंध में अपने विनिश्चय करने के लिए स्वतंत्र हैं । अतः, यह राज्य सरकारों/संघ राज्यक्षेत्रों के विकल्प पर छोड़ा जाता है कि वे बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक एफ. डी. आई. अनुज्ञात करने के लिए नीति को कार्यान्वित करें अथवा नहीं ।

14. किसी सरकारी नीति की प्रभावकारिता के संबंध में मत और वे, उद्देश्य, जो ऐसी नीति द्वारा पूरे किए जाने ईप्सित हैं, भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । इन प्रतिकूल मतों में कुछ गुणवत्ता हो सकती है किन्तु हमारे संविधान के अधीन कार्यपालिका को सरकारी नीति तैयार करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व सौंपा गया है । कार्यपालिक कृत्य में नीति का निर्धारण तथा उसका निष्पादन दोनों ही समाविष्ट होते हैं । यदि वर्तमान सरकार सम्यक् चिन्तन, सोच-समझ और विचार-विमर्श के पश्चात् यह महसूस करती है कि बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अनुज्ञात

करने से देश की अर्थव्यवस्था में वृद्धि होगी और इससे माल के उत्पादक के लिए बाजार की बेहतर पहुंच सुकर बनेगी और नियोजन की संभावनाएं बढ़ेंगी तो हमारी राय में, न्यायालय ऐसी नीति के गुणागुण की परीक्षा नहीं कर सकता है ।

15. नीति पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले विषयों के संबंध में यह न्यायालय तब तक हस्तक्षेप नहीं करता है जब तक कि वह नीति असांविधानिक या कानूनी उपबंधों के प्रतिकूल या मनमानी या असंगत न हो या वह शक्ति का दुरुपयोग करके न बनाई गई हो । आक्षेपित नीति, जो बहु-ब्रांड फुटकर व्यापार में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुज्ञा देती है, इनमें किसी भी दोष से ग्रस्त प्रतीत नहीं होती है ।

16. यह उल्लेखनीय है कि औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग को कार्य आबंटन नियम, 1961 के अनुसार "प्रवासी भारतीय कार्य मंत्रालय को सौंपे गए कृत्यों को छोड़कर औद्योगिक और सेवा परियोजनाओं में प्रत्यक्ष विदेशी और अनिवासी निवेश" का विषय आबंटित किया गया है । इस दृष्टि से औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के संबंध में नीति संबंधी घोषणाएं करने के लिए सशक्त है । याची की इस दलील में कोई सार नहीं है कि केन्द्रीय सरकार को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश नीति तैयार करने का कोई प्राधिकार या सक्षमता नहीं है । किसी अनिवासी इकाई/भारत के बाहर निवासी व्यक्ति द्वारा किसी भारतीय कंपनी की पूंजी में निवेश करने से संबंधित नीति बनाने संबंधी केन्द्रीय सरकार की सक्षमता संदेह से परे है । भारतीय रिजर्व बैंक को भारत में विभिन्न प्रकार के विदेशी मुद्रा संव्यवहारों को, जिसमें प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भी है, आवश्यक विनियमों के माध्यम से प्रतिषिद्ध, निर्बंधित या विनियमित करने की शक्ति प्राप्त है । भारतीय रिजर्व बैंक भारत में विदेशी निवेश को भारत सरकार की नीति के अनुसार विनियमित करता है ।

17. यह रिट याचिका खारिज की जाती है और खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है । अंतर्वर्ती आवेदनों का निपटारा किया जाता है ।

रिट याचिका खारिज की गई ।

ग्रो.

———

राजस्थान राज्य

बनाम

श्रवण राम

1 मई, 2013

न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् और न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 32] – हत्या – बहु को आग में जलाना – एक से अधिक मृत्युकालिक कथन – विश्वसनीयता – कथनों में विरोधाभास – कथनों का संदिग्ध पाया जाना – दोषसिद्धि संभव नहीं – यदि दो मृत्युकालिक कथनों में विरोधाभास है और साक्षियों के अभिसाक्ष्य में फर्क भी है तब ऐसे मृत्युकालिक कथनों के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती ।

साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) – धारा 32 [सपठित राजस्थान पुलिस नियम, 1965 – नियम 6.22] – मृत्युकालिक कथन की अनुकूलता – कथन में अभियुक्त को नामित न किया जाना – यदि मृत्युकालिक कथन में अभियुक्त को अपराध कारित किए जाने के लिए नामित नहीं किया गया है तब ऐसी स्थिति में मृत्युकालिक कथन का अवलंब नहीं लिया जा सकता चाहे वह कथन राजस्थान पुलिस नियम के अनुसरण में क्यों न हो ।

इस मामले में, अभियुक्तों को अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया गया था । न्यायाधीश के इस आदेश से व्यथित होकर अभियुक्तों ने राजस्थान उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया । उच्च न्यायालय के इस आदेश से व्यथित होकर राजस्थान राज्य ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय इस पर विचार करेगा कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अभिलिखित प्रेम चंद (अभि. सा. 3) का कथन, जिसमें प्रदर्श पी-6 के रूप में चिन्हांकित किया गया है, मृत्युकालिक कथन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है या नहीं जिसमें उसने यह उल्लेख किया है कि मृतका चीख पुकार कर रही थी और

उसको आग में जलाने के लिए अपने श्वसुर को गालियां दे रही थीं । अभि. सा. 3 को पक्षद्रोही घोषित किया गया है । इसके अतिरिक्त, पड़ोसी अर्थात् अभि. सा. 4 और अभि. सा. 5 ने मृतका को जलते हुए तथा शोर मचाते हुए देखा है, किन्तु उन्होंने मृत्यु का कारण प्रकट नहीं किया है और न ही अभियुक्तों के नामों का उल्लेख किया है । परिणामतः, प्रेम चंद द्वारा दिए गए मृत्युकालिक कथन की संपुष्टि नहीं की गई है । यह सुज्ञात विधि है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन संपुष्टि न किए गए मृत्युकालिक कथन के रूप में दिए गए कथनों का अवलंब लेना उचित नहीं होगा । यद्यपि संपुष्टि अत्यावश्यक नहीं है किन्तु कथन की साक्ष्य संबंधी महत्ता को प्रबलित करने के लिए आवश्यक है । (पैरा 9)

इस मामले में न्यायालय ने ऊपर उल्लिखित नियम पर विचार किया है कि इसका सारभूत रूप से अनुपालन किया गया है, न्यायालय के मतानुसार संपुष्टि के अभाव में इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अवलंब नहीं लिया जा सकता है कि प्रदर्श पी-14क में मृतका ने अभियुक्तों को नामित नहीं किया है । मृतका ने यह कथन किया है कि वह उस व्यक्ति को नहीं पहचान सकती जिसने उसे जलाया है । अतः, किसी भी संपुष्टि के अभाव में प्रदर्श पी-14क में किसी भी अभियुक्त को नामित न किए जाने पर, मृत्युकालिक कथन का अवलंब नहीं लिया जा सकता है चाहे राजस्थान पुलिस नियम, 1965 के नियम 6.22 का अनुपालन क्यों न किया गया हो । न्यायालय ने दोनों मृत्युकालिक कथनों पर विचार किया है और दोनों मृत्युकालिक कथनों में न केवल महत्वपूर्ण विरोधाभास है अपितु साक्षियों के अभिसाक्ष्यों में फर्क भी है । सहायक पुलिस उप निरीक्षक को दिए गए मृत्युकालिक कथन में, जिस पर अभि. सा. 13 द्वारा हस्ताक्षर किए गए हैं, किसी भी अभियुक्त के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है और मृतका ने यह कथन किया है कि वह उस व्यक्ति को नहीं पहचान सकी थी जिसने उसको आग में जलाया, यद्यपि, यह मृत्युकालिक कथन राजस्थान पुलिस नियम, 1965 के नियम 6.22 के अनुसरण में है । जहां तक दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 161 के अधीन अभिलिखित प्रेम चंद (अभि. सा. 3) के कथन (जिसे प्रदर्श पी-6 के रूप में चिन्हांकित किया गया है) का संबंध है, मृतका केवल अपने श्वसुर को गालियां दे रही थीं और इस बात की संपुष्टि अभि. सा. 4 या अभि. सा. 5 द्वारा नहीं की गई है और स्वयं अभि. सा. 3 पक्षद्रोही हो गया है । न्यायालय के मतानुसार, दोनों मृत्युकालिक कथनों के बीच फर्कों और विरोधाभासों के कारण तथा अन्य किसी विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव में उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि के

आदेश को उलट कर न्यायोचित किया है जिसमें इस न्यायालय द्वारा कोई भी हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है । (पैरा 14, 21 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 4 एस. सी. सी. 327 : **भज्जू** उर्फ **करण सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	10
[2010]	(2010) 2 एस. सी. सी. 85 = ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 408 : **शारदा** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	20
[2009]	(2009) 15 एस. सी. सी. 120 : **आन्ध्र प्रदेश राज्य** बनाम **पी. ख्वाजा हुसैन** ;	19
[2008]	(2008) 5 एस. सी. सी. 468 : **अनमोल सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	18
[2004]	(2004) 9 एस. सी. सी. 713 = ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 1720 : **लैला श्रीनिवास राव** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य** ;	17
[2001]	(2001) 6 एस. सी. सी. 407 = ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 2124 : **अरविंद सिंह** बनाम **बिहार राज्य** ;	9
[2000]	(2000) 1 एस. सी. सी. 310 = ए. आई. आर. 1999 एस. सी. 3062 : **किशन लाल** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	16
[1993]	(1993) 1 एस. सी. सी. 1 = ए. आई. आर. 1993 एस. सी. 374 : **श्रीमती कमला** बनाम **पंजाब राज्य** ।	15

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2007 की दांडिक अपील सं. 427.

2001 की दांडिक अपील सं. 124 में राजस्थान उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री मिलिंद कुमार

प्रत्यर्थियों की ओर से सुश्री प्रतिभा जैन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् ने दिया ।

न्या. राधाकृष्णन् – यह अपील 2001 की दांडिक अपील सं. 124 में राजस्थान उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा किए गए निर्णय के विरुद्ध राजस्थान राज्य द्वारा की गई है । अपर सेशन न्यायाधीश ने भारतीय दंड संहिता, 1860 (संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 302 के अधीन अभियुक्तों को दोषसिद्ध किया था और जुर्माने के साथ आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया था और सेशन न्यायाधीश का यह आदेश उच्च न्यायालय द्वारा उलट दिया गया और अभियुक्तों को दोषमुक्त कर दिया गया ।

2. अभियोजन पक्षकथन निम्न प्रकार है :–

मृतका गुड्डी तारीख 11 सितम्बर, 1998 को 99 प्रतिशत जली हुई क्षतियों के साथ अस्पताल में भर्ती कराई गई । सहायक उप निरीक्षक राम किशन ने मृतका का पर्चा बयान (प्रदर्श पी-14क) अभिलिखित किया और उस पर थानाध्यक्ष मोहन लाल (अभि. सा. 13) ने अस्पताल में हस्ताक्षर किए । उक्त पर्चा बयान के आधार पर अभियुक्तों के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 307 के अधीन प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 300/98 पुलिस थाना मदनगंज, (अजमेर) में रजिस्ट्रीकृत की गई । उपचार के दौरान, लगभग 10.00 बजे पूर्वाह्न में उसी दिन गुड्डी की मृत्यु हो गई और मामला दंड संहिता की धारा 302 में परिवर्तित कर दिया गया । अन्वेषण के दौरान, दोनों अभियुक्तों को तारीख 12 सितम्बर, 1998 को गिरफ्तार किया गया जिनमें पहला अभियुक्त मृतका का श्वसुर है और दूसरा उसका पति है । अभियुक्तों ने उन पर लगाए गए आरोपों से इनकार किया और मामले का विचारण किए जाने की कार्यवाही की गई । अभियोजन पक्ष की ओर से 14 साक्षियों की परीक्षा की गई । अपर सेशन न्यायाधीश ने मृत्युकालिक कथन का भरपूर अवलंब लिया जो प्रेम चंद (अभि. सा. 3) अर्थात् मृतका के पड़ोसी के समक्ष दिया गया बताया गया है जिसका उल्लेख दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 161 के अधीन प्रेम चंद द्वारा पुलिस को दिए गए कथन (प्रदर्श पी-6) में भी किया गया है । अभि. सा. 3 ने यह अभिकथन किया है कि जलने पर मृतका ने चीख पुकार की थी और उसने अपने श्वसुर श्रवण राम को गालियां दी थीं । सेशन न्यायालय ने अभि. सा. 3 के साक्ष्य और उसके द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन दिए

गए कथन के आधार पर अभियुक्तों को दोषी पाया ।

3. अपर सेशन न्यायाधीश ने निम्न परिस्थितियों को महत्व दिया है :–

(i) श्रीमती गुड्डी आयु 19 वर्ष की मृत्यु उसके विवाह के दो वर्ष पश्चात् 99 प्रतिशत जली हुई क्षतियों के कारण हुई है जिस पर मिट्टी का तेल उड़ेलकर माचिस से आग लगाई गई थी, अतः मृत्यु मानव वध है ।

(ii) मृतका अभियुक्त-अपीलार्थियों की अभिरक्षा में थी और मात्र इस कारण से अभिरक्षा समाप्त नहीं हो जाती है कि मृतका घर से बाहर आ गई थी और वहां घटना घटित हुई ।

(iii) मृतका का पिता नत्थू लाल (अभि. सा. 1), मृतका का चाचा कैलाश (अभि. सा. 2) और मृतका की माता श्रीमती सूरज देवी (अभि. सा. 13) ने अपने कथनों में यह अभिसाक्ष्य दिया है कि अभियुक्त-अपीलार्थी मृतका को उसकी ससुराल जाने नहीं देते थे ।

(iv) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन प्रेम चंद (अभि. सा. 3) द्वारा दिए गए कथन को मृत्युकालिक कथन माना गया है न कि पर्चा बयान को । अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा मृतका के पर्चा बयान का अवलंब नहीं लिया गया है ।

(v) अभियुक्त-अपीलार्थियों का पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती आचरण, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन दिए गए उनके कथनों में संतोषजनक रूप से स्पष्ट नहीं किया गया है जैसा कि भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 8 के अधीन अपेक्षित है ।

(vi) चूंकि मृत्यु अभियुक्तों की अभिरक्षा में हुई है, अतः अभियुक्त इस तथ्य को साबित करने के लिए जिम्मेदार है कि आग कैसे लगी जोकि साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अधीन यथा अपेक्षित अभियुक्तों की जानकारी में विशिष्ट रूप से थी और इसके अतिरिक्त साक्ष्य अधिनियम की धारा 114 के अनुसार अभियुक्तों के विरुद्ध उपधारणा की जानी चाहिए ।

4. प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री अभिषेक गुप्ता ने यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अभिलिखित प्रेम चंद (अभि. सा. 3) जैसे साक्षी के कथन के आधार पर दोषसिद्धि करना

उचित नहीं होगा जिसे पक्षद्रोही घोषित किया गया था । इसके अतिरिक्त, यह भी दलील दी गई है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन कथन में अभि. सा. 3 ने दूसरे अभियुक्त अर्थात् मृतका के पति पप्पू लाल को नामित नहीं किया गया है । यह भी दलील दी गई है कि श्रीमती छोटी (अभि. सा. 4) और नारायण (अभि. सा. 5), जो कि पड़ोसी हैं, ने मृत्यु का कारण प्रकट नहीं किया है और उन्होंने अपने साक्ष्य में किसी भी अभियुक्त का नाम नहीं लिया है । अतः, प्रेम चंद के समक्ष दिए गए मृत्युकालिक कथन की संपुष्टि नहीं हुई है और उच्च न्यायालय ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि संपुष्टि न किए गए मृत्युकालिक कथन का अवलंब नहीं लिया जा सकता है । अतः विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय के निर्णय में कोई भी हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है ।

5. राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री शोरण मिश्रा ने यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 3 के साक्ष्य और उसके द्वारा दंड प्रंकिया संहिता की धारा 161 के अधीन दिए गए कथन का अवलंब न लेकर त्रुटि की है जिसमें दूसरे अभियुक्त के नाम का उल्लेख किया गया है । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी है कि उच्च न्यायालय इस तथ्य पर भी विचार करने में असफल रहा है कि मृतका प्रत्यर्थियों की अभिरक्षा में थी और इसीलिए जलाए जाने के तथ्य को स्पष्ट करने का भार अभियुक्तों पर है । इसके अतिरिक्त, वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अपने कथन में कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दे सके हैं । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी है कि उच्च न्यायालय ने मृतका के पिता नाथू लाल (अभि. सा. 1), मृतका के चाचा कैलाश (अभि. सा. 2) और मृतका की माता सूरज देवी (अभि. सा. 14) के साक्ष्य का समुचित रूप से मूल्यांकन नहीं किया है । अभि. सा. 14 ने अपने अभिसाक्ष्य में यह कथन किया है कि मृतका का श्वसुर यह कहा करता था कि गुड्डी उसकी पत्नी है और इस साक्षी ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसकी पुत्री ने उसे यह बताया था कि यदि उपरोक्त तथ्य किसी को प्रकट किए गए तो मृतका को जलाकर मार दिया जाएगा । अतः विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अभि. सा. 1, अभि. सा. 2, अभि. सा. 14 के साक्ष्य तथा अभि. सा. 3 द्वारा दिए गए कथन से प्रत्यर्थियों का दोषसिद्ध हो जाता है और विचारण न्यायालय ने उन्हें ठीक ही दोषसिद्ध किया है ।

6. हमारा यह विचार है कि इस घटना का कोई भी प्रत्यक्षदर्शी साक्षी नहीं है और संपूर्ण मामला मृतका द्वारा दिए गए अभिकथित मृत्युकालिक

कथन और पारिस्थितिक साक्ष्य पर टिका हुआ है । डा. पी. सी. पटनी (अभि. सा. 11) ने शवपरीक्षण किया है और रिपोर्ट प्रदर्श पी-14 प्रस्तुत की है जिसमें यह उल्लेख किया गया है कि मृतका को 99 प्रतिशत जली हुई क्षतियां पहुंची हैं । चिकित्सा बोर्ड के सदस्यों द्वारा शवपरीक्षण किया गया है और उनकी राय में मृत्यु का कारण मृत्यु पूर्व की जली हुई क्षतियों से होने वाला हाइपोवाल्यूमिक आघात है और मृत्यु घटना के 24 घंटों के भीतर हुई है और आत्महत्या किए जाने या दुर्घटनात्मक रूप से आग लगने का कोई भी साक्ष्य नहीं है, अतः यह मामला मानव वध का है ।

7. इस मामले में हम तीन मृत्युकालिक कथनों पर विचार कर रहे हैं जो निम्न प्रकार है :–

(i) सहायक उप निरीक्षक किशन ने मृतका का पर्चा बयान अभिलिखित किया है जिस पर चिकित्सक की मौजूदगी में मोहन लाल (अभि. सा. 13) द्वारा हस्ताक्षर किए गए हैं और उस पर चिकित्सक के भी हस्ताक्षर हैं । इसके अतिरिक्त, अभियुक्तों ने यह भी कथन किया है कि उन्होंने अपने अंगूठों की छाप भी लगाई है ।

(ii) यह कथन किया गया है कि मृत्युकालिक कथन तारीख 11 सितम्बर, 1998 को दिया गया है जिस पर उपखंड मजिस्ट्रेट द्वारा हस्ताक्षर किए गए हैं किन्तु न तो उक्त मृत्युकालिक कथन को प्रदर्शित किया गया है और न ही उपखंड मजिस्ट्रेट को साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

(iii) मृत्युकालिक कथन, प्रेम चंद (अभि. सा. 3) के समक्ष दिया गया है जिसके संबंध में प्रेम चंद ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अपने कथन में भी उल्लेख किया है ।

8. हमें अभिलेख पर केवल दो मृत्युकालिक कथन ही मिले हैं, ऊपर उल्लिखित मृत्युकालिक कथन न्यायालय में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है । मृतका का पर्चा बयान जिसके आधार पर मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया है, इस प्रकार है :–

"मैं मालियों की धानी मदनगंज में रहती हूं । मैं आज प्रातःकाल लगभग चार-पांच बजे अपने घर से शिव जी मंदिर के साथ सटे नाले के निकट शौच के लिए गई थी और मैं उस समय शौच कर रही थी जब मुझे एक व्यक्ति सफेद पैंट और कमीज पहने हुए आता दिखाई दिया । उसके हाथ में मिट्टी के तेल का डिब्बा था, उसने मेरे ऊपर

उलट दिया । उसने माचिस से मुझमें आग लगा दी । मेरे टेरिकॉट के वस्त्रों में तुरंत आग लग गई । मैं नाले में गिर गई और नाले से बाहर निकल कर जलती हुई घर पहुंची और परिवार के सदस्यों को संपूर्ण घटना बताई । मैं उस व्यक्ति को नहीं जानती । मैं जलती हुई नाले में गिरी थी और नाले से जलती हुई बाहर निकली तथा मैंने परिवार के सदस्यों को संपूर्ण घटना बताई जो मुझे अस्पताल लाए हैं, मेरा विवाह दो वर्ष पूर्व हुआ था ।"

यह बताया गया है कि मृतका द्वारा तीसरा मृत्युकालिक कथन प्रेम चंद (अभि. सा. 3) के समक्ष दिया गया है जिसे प्रदर्श पी-6 के भाग-ए से भाग-बी के रूप में निर्दिष्ट किया गया है और यह निम्न प्रकार है :–

"वह एक महिला थी जो घटनास्थल पर चिल्ला रही थी और वह अपने श्वसुर श्रवण राम को गालियां दे रही थी कि मुझमें आग लगाकर भाग गया ।"

9. अब हम इस पर विचार करेंगे कि क्या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन अभिलिखित प्रेम चंद (अभि. सा. 3) का कथन, जिसमें प्रदर्श पी-6 के रूप में चिन्हांकित किया गया है, मृत्युकालिक कथन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है या नहीं जिसमें उसने यह उल्लेख किया है कि मृतका चीख पुकार कर रही थी और उसको आग में जलाने के लिए अपने श्वसुर को गालियां दे रही थीं । अभि. सा. 3 को पक्षद्रोही घोषित किया गया है । इसके अतिरिक्त, पड़ोसी अर्थात् अभि. सा. 4 और अभि. सा. 5 ने मृतका को जलते हुए तथा शोर मचाते हुए देखा है, किन्तु उन्होंने मृत्यु का कारण प्रकट नहीं किया है और न ही अभियुक्तों के नामों का उल्लेख किया है । परिणामतः, प्रेम चंद द्वारा दिए गए मृत्युकालिक कथन की संपुष्टि नहीं की गई है । यह सुज्ञात विधि है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 161 के अधीन संपुष्टि न किए गए मृत्युकालिक कथन के रूप में दिए गए कथनों का अवलंब लेना उचित नहीं होगा । यद्यपि संपुष्टि अत्यावश्यक नहीं है किन्तु कथन की साक्ष्य संबंधी महत्ता को प्रबलित करने के लिए आवश्यक है । **अरविंद सिंह** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने मौखिक मृत्युकालिक कथन के मामले में यह मत व्यक्त किया है :–

---

[1] (2001) 6 एस. सी. सी. 407 = ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 2124.

मृत्युकालिक कथन पर कड़ी सावधानी और सतर्कता से विचार किया जाना चाहिए । संपुष्टि किया जाना आवश्यक नहीं है किन्तु यह व्यवहारिक है कि उसकी संपुष्टि की जाए ताकि कथन की साक्ष्य संबंधी महत्ता प्रबलित हो सके । स्वतंत्र साक्षी उपलब्ध नहीं हो सकते हैं किन्तु ऐसे कथनों को विश्वसनीय साक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के मामले में कड़ी सावधानी और सतर्कता बरतनी चाहिए ।

10. **भज्जू** उर्फ **करण सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने मृत्युकालिक कथन की ग्राह्यता पर विचार करते हुए निम्न मत व्यक्त किया :–

"इस संबंध में विधि सुस्थापित है कि मृत्युकालिक कथन साक्ष्य में ग्राह्य है और इसकी ग्राह्यता आवश्यकता की सिद्धांत पर आधारित है । यदि मृत्युकालिक कथन विश्वसनीय पाया जाता है तब इसे दोषसिद्धि का आधार माना जा सकता है । न्यायालय को दोषसिद्धि के निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए संपुष्टि न किए गए मृत्युकालिक कथन के आधार पर कार्यवाही करने से अपवर्जित नहीं किया गया है । मृत्युकालिक कथन साक्ष्य के रूप में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कोई अन्य साक्ष्य । इस पर, इससे संबंधित सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाना चाहिए और साक्ष्य के सार के सिद्धांत को भी ध्यान में रखना चाहिए । यदि किसी मामले में कोई मृत्युकालिक कथन किसी त्रुटि से ग्रसित है या तो स्वयं में या मामले में प्रस्तुत अन्य साक्ष्य से प्रकट होने पर या न्यायालय के जानकारी में परिस्थितियों के आने पर, न्यायालय प्रज्ञा के नियम के रूप में संपुष्टि पर विचार कर सकता है और यदि साक्ष्य में ऐसी त्रुटि है जिससे मृत्युकालिक कथन इतना शिथिल हो जाए कि इस पर से न्यायालय का विश्वास उठ जाए, तब ऐसी स्थिति में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है और इसे दोषसिद्धि का आधार नहीं माना जा सकता है ।"

11. उपर्युक्त विधि सिद्धांतों और अभिलेख पर मौजूद तथ्यों पर विचार करने पर, हमारा यह मत है कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 161 के अधीन प्रेम चंद (अभि. सा. 3) द्वारा पुलिस को दिए गए कथन का कोई भी अवलंब, संपुष्टि न किए जाने पर, नहीं लिया जा सकता है । कुल

---

[1] (2012) 4 एस. सी. सी. 327.

मिलाकर स्वयं अभि. सा. 3 पक्षद्रोही हो गया है ।

12. अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या ऐसे मृत्युकालिक कथन के आधार पर, जिसे सहायक उपनिरीक्षक राम किशन द्वारा अभिलिखित किया गया बताया गया है और जिस पर थाने के भारसाधक अधिकारी मोहन लाल (अभि. सा. 13) तथा डा. अनिल कुमार सोनी द्वारा हस्ताक्षर किए गए हैं, पर्याप्त रूप से दोषसिद्धि की जा सकती है या नहीं ।

13. सर्वप्रथम हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या पर्चा बयान (प्रदर्श पी-14क), जिसे मृत्युकालिक कथन माना गया है, राजस्थान पुलिस नियम, 1965 के नियम 6.22 के अनुकूल है । राजस्थान पुलिस नियम, 1965 का नियम 6.22 निम्न प्रकार है :–

> "मृत्युकालिक कथन – (1) मृत्युकालिक कथन, यथासंभव, मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित किया जाएगा ।
>
> (2) मृत्युकालिक कथन देने वाले व्यक्ति की, यदि संभव हो, चिकित्सा परीक्षा चिकित्सा अधिकारी द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए की जाएगी कि वह पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट कथन देने की स्थिति में है ।
>
> (3) यदि कोई मजिस्ट्रेट उपलब्ध नहीं हो पाता है और कोई राजपत्रित पुलिस अधिकारी भी उपलब्ध न हो तब पुलिस विभाग और मामले के पक्षकारों से असम्बद्ध दो या अधिक विश्वसनीय साक्षियों की मौजूदगी में कथन अभिलिखित किया जाएगा ।
>
> (4) यदि आहत व्यक्ति को मृत्यु के जोखिम में डाले बिना कोई भी ऐसे साक्षी उपलब्ध नहीं हो पाते हैं तब उसका कथन अभिलिखित किया जा सकता है, यह कथन दो या अधिक पुलिस अधिकारियों की मौजूदगी में अभिलिखित किया जा सकता है ।
>
> (5) पुलिस अधिकारी को दिया गया मृत्युकालिक कथन दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 162 के अधीन कथन देने वाले व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षरित किया जाना चाहिए ।"

14. इस मामले में हमने ऊपर उल्लिखित नियम पर विचार किया है कि इसका सारभूत रूप से अनुपालन किया गया है, हमारे मतानुसार संपुष्टि के अभाव में इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अवलंब नहीं लिया जा सकता है कि प्रदर्श पी-14क में मृतका ने अभियुक्तों को नामित नहीं किया है । मृतका

ने यह कथन किया है कि वह उस व्यक्ति को नहीं पहचान सकती जिसने उसे जलाया है । अतः, किसी भी संपुष्टि के अभाव में प्रदर्श पी 14-क में किसी भी अभियुक्त को नामित न किए जाने पर, मृत्युकालिक कथन का अवलंब नहीं लिया जा सकता है चाहे राजस्थान पुलिस नियम, 1965 के नियम 6.22 का अनुपालन क्यों न किया गया हो ।

15. इस न्यायालय ने **श्रीमती कमला** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में एक से अधिक मृत्युकालिक कथनों के कार्यक्षेत्र पर विचार करते हुए निम्न अभिनिर्धारित किया है :–

> "मृत्युकालिक कथन का समाधान सभी आवश्यक परीक्षणों से होना चाहिए और इनमें से एक परीक्षण यह है कि यदि एक से अधिक मृत्युकालिक कथन हों तब वे महत्वपूर्ण विशिष्टियों पर एक-दूसरे के साथ संगत होने चाहिए ।"

16. **किशन लाल** बनाम **राजस्थान राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न मत व्यक्त किया है :–

> "इन दोनों मृत्युकालिक कथनों पर विचार करने पर हमारा केवल यह निष्कर्ष नहीं है कि दो प्रतिरोधी कथन दिए गए हैं अपितु तारीख 6 नवम्बर, 1996 के अन्य मृत्युकालिक कथन के संबंध में दिए गए साक्षियों के अभिसाक्ष्यों में विरोधाभास भी है । अंततः, मजिस्ट्रेट के समक्ष दिए गए मृत्युकालिक कथन में जिस पर संभवतः अधिक अवलंब लिया जा सकता है, उसमें मृतक ने अभियुक्त को नामित नहीं किया है । इस प्रकार, हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों मृत्युकालिक कथनों से अपीलार्थी का दोष साबित नहीं होता है । अतः उच्च न्यायालय ने इन कथनों का मूल्यांकन करने में त्रुटि की है ।

17. **लैला श्रीनिवास राव** बनाम **आंध्र प्रदेश राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने दो मृत्युकालिक कथनों की विधिकता और स्वीकार्यता पर विचार किया है । दो मृत्युकालिक कथनों के बीच असंगतता पर विचार करते हुए, न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अभियुक्तों को

---

[1] (1993) 1 एस. सी. सी. 1 = ए. आई. आर. 1993 एस. सी. 374.

[2] (2000) 1 एस. सी. सी. 310 = ए. आई. आर. 1999 एस. सी. 3062.

[3] (2004) 9 एस. सी. सी. 713 = ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 1720.

दोषसिद्ध करने के लिए मात्र उक्त कथनों का अवलंब लेना उचित नहीं होगा ।

18. **अनमोल सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने एक से अधिक दिए गए मृत्युकालिक कथनों के बीच असंगतताओं पर विचार करते हुए दंडादेश में हस्तक्षेप किया है । अभियोजन पक्षकथन को सुदृढ़ बनाने के लिए एक से अधिक मृत्युकालिक कथनों की आवश्यकता नहीं होती अपितु कथन में विश्वसनीयता होनी चाहिए । यदि कोई मृत्युकालिक कथन स्वेच्छा से दिया गया है, विश्वसनीय है और ठीक मानसिक दशा में दिया गया है तब इस पर बिना किसी संपुष्टि के अवलंब लिया जा सकता है किन्तु कथन पूर्णतया संगत होना चाहिए । तथापि, यदि दो मृत्युकालिक कथनों के बीच कुछ असंगतताएं पाई जाती हैं तब न्यायालय को उन असंगतताओं की प्रकृति पर विचार करना होगा अर्थात् इस बात पर विचार करना होगा कि ऐसी असंगतताएं महत्वपूर्ण हैं या नहीं और ऐसी स्थिति में एक से अधिक मृत्युकालिक कथनों की अन्तर्वस्तु की संवीक्षा करते समय न्यायालय को अनेक संबंधित तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर विचार करना चाहिए ।

19. **आन्ध्र प्रदेश राज्य** बनाम **पी. ख्वाजा हुसैन**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने दोषमुक्ति के विरुद्ध फाइल की गई अपील खारिज कर दी और यह अभिनिर्धारित किया कि यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें दो मृत्युकालिक कथनों के बीच आया अंतर तुच्छ प्रकृति का हो ।

20. **शारदा** बनाम **राजस्थान राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय ने तीन मृत्युकालिक कथनों पर विचार किया है । मृत्युकालिक कथनों के बीच असंगतताओं पर विचार करते हुए, इस न्यायालय ने सेशन न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दंडादेश को अपास्त कर दिया और निम्न अभिनिर्धारित किया :–

> "यद्यपि मृत्युकालिक कथन का विधि द्वारा अनुमोदन किया गया है जिसे अत्यधिक महत्व दिया जाना चाहिए किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि अभियुक्त को मृत्युकालिक कथन पर प्रतिपरीक्षा करने का कोई अवसर नहीं मिलता । शपथ की जिम्मेदारी के रूप में सच्चाई का

---

[1] (2008) 5 एस. सी. सी. 468.

[2] (2009) 15 एस. सी. सी. 120.

[3] (2010) 2 एस. सी. सी. 85 = ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 408.

पता लगाने के लिए प्रतिपरीक्षा करने का अधिकार आवश्यक है । यही कारण है कि, सामान्यतया न्यायालय इस बात पर बल देता है कि मृत्युकालिक कथन ऐसा होना चाहिए जिस पर न्यायालय को उसकी शुद्धता को लेकर पूर्ण विश्वास हो जाए । न्यायालय को इस संबंध में सावधान रहना चाहिए कि मृतक ने यह कथन सिखाए-पढ़ाए जाने, उकसाने या कल्पना के आधार पर नहीं दिया है । न्यायालय का यह भी समाधान होना चाहिए कि मृतक की मानसिक दशा ठीक थी और मृतक को हमलावरों को पहचानने का स्पष्ट अवसर प्राप्त हुआ था । जब एक बार न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि उपर्युक्त अपेक्षा पूरी हो गई है और यह भी समाधान हो जाता है कि दिया गया कथन सत्य और स्वेच्छापूर्ण है, तब निस्संदेह न्यायालय बिना किसी संपुष्टि के इस कथन के आधार पर दोषसिद्धि कर सकता है ।"

21. हमने दोनों मृत्युकालिक कथनों पर विचार किया है और दोनों मृत्युकालिक कथनों में न केवल महत्वपूर्ण विरोधाभास है अपितु साक्षियों के अभिसाक्ष्यों में फर्क भी है । सहायक पुलिस उपनिरीक्षक को दिए गए मृत्युकालिक कथन में, जिस पर अभि. सा. 13 द्वारा हस्ताक्षर किए गए हैं, किसी भी अभियुक्त के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है और मृतका ने यह कथन किया है कि वह उस व्यक्ति को नहीं पहचान सकी थी जिसने उसको आग में जलाया, यद्यपि, यह मृत्युकालिक कथन राजस्थान पुलिस नियम, 1965 के नियम 6.22 के अनुसरण में है ।

22. जहां तक दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 161 के अधीन अभिलिखित प्रेम चंद (अभि. सा. 3) के कथन (जिसे प्रदर्श पी-6 के रूप में चिन्हांकित किया गया है) का संबंध है, मृतका केवल अपने श्वसुर को गालियां दे रही थी और इस बात की संपुष्टि अभि. सा. 4 या अभि. सा. 5 द्वारा नहीं की गई है और स्वयं अभि. सा. 3 पक्षद्रोही हो गया है । हमारे मतानुसार, दोनों मृत्युकालिक कथनों के बीच फर्कों और विरोधाभासों के कारण तथा अन्य किसी विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव में उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि के आदेश को उलट कर न्यायोचित किया है जिसमें इस न्यायालय द्वारा कोई भी हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है । उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए अपील खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

अस.

———

बैंक ऑफ महाराष्ट्र

बनाम

पांडुरंग केशव गोरवार्डकर

7 मई, 2013

न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा, न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर और
न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51) – धारा 19(19) और 17 [सपठित कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529(1) के परन्तुक के साथ पठित धारा 529-क] – ऋण वसूली अधिकरण की अधिकारिता – ऋणी कंपनी के कर्मकारों द्वारा अपने देयों मद्धे कंपनी की प्रतिभूतियों के विक्रय आगमों पर प्रतिभूत लेनदारों के साथ मात्रा के अनुसार दावा – ऋण कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करना एक सारवान् विषय है और ऋण वसूली अधिकरण ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन/अवधारण करने के लिए सशक्त नहीं है ।

कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) – धारा 529(1), परन्तुक धारा 529-क, 446 और 450 [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – कानूनी प्रभार – जब कोई कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है तब कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति पर एक कानूनी प्रभार सृजित हो जाता है और यह प्रभार प्रतिभूत लेनदारों की हकदारी की मात्रा के अनुसार होता है तथा वह अनुपात निकालने के लिए जिसके आधार पर विक्रय आगमों का कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण किया जाना होता है, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख होती है न कि प्रतिभूति का विक्रय किए जाने की तारीख होती है ।

बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (1993 का 51) – धारा 19(19) – ऋण वसूली अधिकरण – ऋणी कंपनी के कर्मकारों द्वारा अपने देयों का दावा – यदि ऋणी कंपनी न तो समापनाधीन और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है तथा

मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो प्रतिभूत लेनदारों के बीच धारा 19(19) में निहित रीति में विक्रय आगमों के वितरण का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है और ऐसी दशा में प्रतिभूति के संपूर्ण विक्रय आगमों का वितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को किया जाएगा तथा विक्रय आगमों का संपूर्ण वितरण हो जाने पर ऋणी कंपनी का बाद में समापनाधीन हो जाना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय आगमों के वितरण को फिर से खोलने के लिए कोई आधार नहीं होगा ।

कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) – धारा 529(1), परन्तुक और धारा 529-क [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – जब कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है तब कर्मकारों के देयों का अवधारण करने और कर्मकारों के भाग को परिमाणित करने के लिए समापक ही सक्षम होता है न कि कोई अन्य प्राधिकारी ।

कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) – धारा 529(1), परन्तुक धारा 529-क, 446 और 450 [सपठित बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 की धारा 19(19)] – कंपनी का परिसमापन – कर्मकारों के देय – यदि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय आगमों के अंतिम संवितरण से पूर्व कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है या अंतरिम समापक की नियुक्ति कर दी जाती है तो कंपनी अधिनियम के अधीन ऐसे विक्रय आगमों पर कर्मकारों के देयों के पक्ष में कानूनी प्रभार का सृजन हो जाता है ।

प्रस्तुत मामले में कंपनी ने वर्ष 1980 में किसी समय बैंक से उधार लिया था । वर्ष 1984-85 में कंपनी को नकदी संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ा । कंपनी के लेनदारों में से एक ने वर्ष 1986 में मुम्बई उच्च न्यायालय के समक्ष कंपनी के परिसमापन के लिए 1986 की कंपनी याचिका फाइल की । वह कंपनी याचिका स्वीकार कर ली गई । कंपनी वर्ष 1992 में बन्द कर दी गई थी । उसी वर्ष, कंपनी द्वारा रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 की धारा 15(1) के अधीन औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड, नई दिल्ली को एक निर्देश किया गया था । औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड ने कंपनी के परिसमापन के लिए आदेश पारित कर दिया । कंपनी ने औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड के इस आदेश को अपील प्राधिकारी के समक्ष चुनौती दी किन्तु वह

असफल रही । वर्ष 1995 में या उसके आस-पास बैंक ने कंपनी और उसके निदेशकों के विरुद्ध 25,39,08,282.79 रुपए की रकम की उस पर सहमत दर पर भावी ब्याज सहित और सिविल न्यायाधीश के न्यायालय में लागत की वसूली के लिए एक वाद फाइल किया । उक्त वाद वर्ष 1999 में ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III को अंतरित कर दिया गया था । ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई- III ने बैंक द्वारा फाइल किए गए आवेदन को मंजूर कर लिया और कंपनी और उसके निदेशकों को संयुक्त रूप से, पृथक्तः और व्यक्तिगत रूप से 25,49,91,756.94 रुपए की राशि, खर्चे और आवेदन की तारीख से इसकी वसूली की तारीख से तिमाही बकाया के आधार पर 8 प्रतिशत वार्षिक दर पर ब्याज सहित संदत्त करने का निदेश दिया । इस निर्णय के परिणामस्वरूप, ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III ने वसूली प्रमाणपत्र जारी किया । वसूली कार्यवाहियों में कंपनी के कर्मकारों/ कर्मचारियों ने अपनी एसोसिएशन के माध्यम से एक आवेदन किया और यह प्रार्थना की कि उन्हें इस मामले में मध्यक्षेप करने की अनुज्ञा दी जाए और कोई नीलामी किए जाने से पूर्व उनके दावे रजिस्ट्रीकृत किए जाएं । कर्मकारों ने कंपनी और उसके प्रबंध निदेशक को एक सूचना भी भेजी जिसमें उनसे उनके देयों का संदाय करने का अनुरोध किया गया । तथापि, कंपनी ने उनके दावे का विरोध किया । वसूली अधिकारी ने कंपनी की जंगम संपत्तियों को नीलाम कर लिया और विक्रय आगमों के रूप में 4,70,55,000/- रुपए की रकम प्राप्त की । उस रकम में से 3 करोड़ रुपए बैंक को संवितरित कर दिए और 1,70,55,000/- रुपए की शेष रकम कंपनी के कर्मकारों के संभावित दावे मद्धे अलग रख दी गई । कर्मकारों ने मुम्बई उच्च न्यायालय के समक्ष एक कंपनी याचिका में अंतरिम समापक की नियुक्ति के लिए और उपर्युक्त वसूली कार्यवाहियों से उद्भूत ऋण वसूली अधिकरण-III के समक्ष आगे कार्यवाहियों पर रोक लगाने के लिए आवेदन फाइल किया । बैंक ने कंपनी न्यायालय के समक्ष कर्मकारों के आवेदन का विरोध किया । उच्च न्यायालय ने कंपनी को परिसमाप्त करने का आदेश दिया और शासकीय समापक को कंपनी अधिनियम के अधीन प्रायिक शक्तियों सहित कंपनी के समापक के रूप में नियुक्त किया गया है । इसी बीच, कर्मकारों ने उच्च न्यायालय के समक्ष ऊपर उल्लिखित अनुतोषों के लिए एक रिट याचिका फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया कि संदाय और उसकी पूर्विकताओं का अवधारण करने की अधिकारिता 1993 के अधिनियम के अधीन पूर्णतः ऋण वसूली अधिकरण में निहित है और इसलिए कर्मकारों को अपने दावे का अवधारण

करने और उसके संबंध में पारिणामिक संदाय के प्रयोजन के लिए ऋण वसूली अधिकरण को समावेदन करना चाहिए । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में अन्य बातों के साथ-साथ ऋण वसूली अधिकरण को पूर्विकताओं का अवधारण करने के लिए कर्मकारों और अन्य प्रतिभूत लेनदारों के दावों का न्यायनिर्णयन करने के लिए कतिपय दिशानिर्देश भी जारी किए थे । इससे व्यथित होकर बैंक ने इन आधारों पर प्रस्तुत अपील फाइल की थी – (1) किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा धारित प्रतिभूति पर कर्मकारों का कोई दावा या अधिकार नहीं होता है । उनके देयों का न्यायनिर्णयन किसी समुचित न्यायालय (उदाहरणार्थ, औद्योगिक अधिकरण) में ही तब किया जा सकता है जब कंपनी समापनाधीन न हो और ऋण वसूली अधिकरण को इस संबंध में कोई सक्षमता प्राप्त न हो और (2) यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन है और प्रतिभूति का ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी के समक्ष वाली कार्यवाहियों में विक्रय कर दिया जाता है तो विक्रय आगम कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529-क के साथ पठित धारा 529(1)(ग) के परन्तुक में अधिकथित कर्मकारों के अंश की सीमित सीमा तक मात्रा के अनुसार प्रभार को ध्यान में रखते हुए वितरित किए जाएंगे । उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रमुख प्रश्न यह था कि क्या 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करने की अधिकारिता प्रदान करती है । उच्चतम न्यायालय द्वारा इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक देते हुए और अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 में विनिर्दिष्ट मामलों में बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के शोध्यों की द्रुत वसूली के लिए विशेष मशीनरी का उपबंध किया गया है । इसी उद्देश्य से इसमें ऋण वसूली अधिकरण की स्थापना करने का उपबंध किया गया है जिसे बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के दावों का न्यायनिर्णयन करने की अधिकारिता, शक्ति और प्राधिकार दिया गया है । 1993 के अधिनियम में ऋण वसूली अधिकरणों द्वारा इस प्रकार न्यायनिर्णीत रकम की वसूली की पद्धतियों के संबंध में भी उपबंध किया गया है । 1993 के अधिनियम के अंतर्गत बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से भिन्न व्यक्तियों के दावों का न्यायनिर्णयन करने का क्षेत्राधिकार नहीं आता है । ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन करने की शक्तियां नहीं दी गई हैं । 1993 के अधिनियम की धारा 17 या धारा

19 का पठन उस रीति में नहीं किया जा सकता है जिसमें ऐसी कार्यवाही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा की जानी अनुज्ञात हो । ऋण वसूली अधिकरण के पास ऐसे सभी विवादों पर विचार करने की कानूनी शक्तियां नहीं हैं जो परिसमापन कार्यवाहियों में कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करते समय उद्भूत हो सकते हैं । ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावे का न्यायनिर्णयन एक सारवान् विषय है और ऋण वसूली अधिकरण के पास न तो उसके संबंध में सक्षमता है और न ही मशीनरी । ऋण वसूली अधिकरण को दी गई कतिपय आनुषंगिक और समनुषंगी शक्तियों के अंतर्गत ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन या विनिश्चय करने की शक्ति नहीं आती है । (पैरा 66)

1993 के अधिनियम द्वारा न केवल ऋण वसूली अधिकरण पर धारा 17 में विनिर्दिष्ट विषयों का अवधारण करने के लिए अनन्य अधिकारिता प्रदत्त की गई है बल्कि इसके द्वारा ऐसे मामलों को ग्रहण करने और उनका विनिश्चय करने के संबंध में अन्य सभी न्यायालयों और अन्य प्राधिकारियों की अधिकारिता भी छीन ली गई है । तथापि, अनुच्छेद 226 और अनुच्छेद 227 के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की शक्तियां अप्रभावित रही हैं । बैंकों या वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली के लिए आवेदनों का विनिश्चय 1993 के अधिनियम के प्रवर्तन में आने के पश्चात् केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा न कि किसी अन्य न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में, धारा 17 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में ऋण वसूली अधिकरण की अधिकारिता अनन्य है । ऋण वसूली अधिकरण को बैंकों या वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली के लिए आवेदन का न्यायनिर्णयन करने पर वसूली प्रमाणपत्र जारी करने की शक्ति भी निहित की गई है । वसूली प्रमाणपत्र जारी कर दिए जाने पर उसके निष्पादन के संबंध में अनन्य अधिकारिता वसूली अधिकारी को प्रदत्त की गई है । ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार ऋण की वसूली के लिए संपूर्ण प्रक्रिया 1993 के अधिनियम में अधिकथित की गई है । तदनुसार, दायित्व का न्यायनिर्णयन और प्रमाणपत्र के निष्पादन द्वारा रकम की वसूली क्रमशः ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी की अनन्य अधिकारिता के भीतर हैं और 1993 के अधिनियम में यथाउपबंधित के सिवाय कोई अन्य न्यायालय या प्राधिकारी उक्त प्रश्नों की परीक्षा नहीं कर सकता है । (पैरा 45 और 46)

कंपनी अधिनियम, 1956 में धारा 529-क कंपनी (संशोधन)

अधिनियम, 1985 द्वारा अंतःस्थापित की गई थी । इस उपबंध के अंतःस्थापन के कारण कर्मकारों के देय प्रतिभूत लेनदारों के साथ मात्रा के अनुसार हो गए थे । दूसरे शब्दों में, परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं । प्रासंगिक रूप से, कंपनी (संशोधन) अधिनियम, 1985 द्वारा कंपनी अधिनियम में धारा 529-क अंतःस्थापित करते समय धारा 529 की उपधारा (1) में परन्तुक भी अंतःस्थापित किया गया था जिसमें यह उपबंध है कि प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उसमें कर्मकार के भाग की मात्रा तक कर्मकार के पक्ष में मात्रा के अनुसार प्रभार के अधीन है । धारा 529-क और धारा 529(1)(ग) के परन्तुक को एक साथ पढ़ने पर यह अप्रतिरोध्य निष्कर्ष निकलता है कि जहां कोई कंपनी परिसमापनाधीन हो वहां प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार के ऊपर कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत एक कानूनी प्रभार सृजित होता है और यह प्रभार मात्रा के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों के प्रभार के समान होता है । ऐसा कानूनी प्रभार कंपनी के प्रतिभूत लेनदार द्वारा धारित प्रतिभूति के संबंध में कर्मकार के भाग की मात्रा तक है । हमारी राय में, यह स्थिति वहां भी लागू होती है जहां कंपनी की आस्तियों का विक्रय बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध प्राप्त किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में तब किया गया है जब वह समापनाधीन नहीं है किन्तु इससे पूर्व कि ऐसे विक्रय से वसूल किए गए आगमों का पूर्णतः और अंतिम रूप से वितरण किया जाता, कंपनी समापनाधीन हो गई थी । दूसरे शब्दों में, ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय से वसूल किए गए आगमों का अंतिम वितरण लंबित रहते हुए यदि ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन कंपनी हो जाती है तो धारा 529-क और 529(1)(ग) का परन्तुक तुरंत प्रवृत्त हो जाता है और ऐसे आगमों पर कर्मकारों के देयों की बाबत उनके पक्ष में कानूनी प्रभार सृजित हो जाता है । (पैरा 62 और 63)

विधि की स्कीम को ध्यान में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि वह अनुपात निकालने के लिए जिस पर विक्रय आगमों का कंपनी के कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण किया जाना है, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख है न कि विक्रय की तारीख । (पैरा 64)

जहां प्रतिभूति का विक्रय 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया

जाता है वहां असंवितरित आगमों का वितरण केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अनुसार किया जाना होता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में यह उपबंधित है कि ऋण वसूली अधिकरण वहां विक्रय आगमों का धारा 529-क के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण करने का आदेश कर सकता है जहां कंपनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत कंपनी के विरुद्ध वसूली प्रमाणपत्र जारी कर दिया जाता है । परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार उसके परिसमापन आदेश की तारीख से ही (या जहां अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है वहां ऐसी नियुक्ति की तारीख से) प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं और वे उस अनुपात में विक्रय आगमों के वितरण के हकदार हो जाते हैं जैसा कि कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में स्पष्ट किया गया है । 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावों का निर्धारण करने की अधिकारिता प्रदान नहीं करती है । (पैरा 65)

1993 के अधिनियम की धारा 19(19) वितरण प्रक्रिया का एक उपबंध है न कि कोई स्वतंत्र न्यायनिर्णायक उपबंध है । यह उपबंध किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा किए गए दावे का न्यायनिर्णयन करने के संबंध में है । यह वहां लागू होता है जहां कंपनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत किसी ऐसी कंपनी के विरुद्ध वसूली प्रमाणपत्र जारी किया जाता है जो कि परिसमापनाधीन है । जहां ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है वहां धारा 19(19) बिल्कुल भी प्रवृत्त नहीं होती । तिवारी समिति रिपोर्ट और नरसिंहम्मा समिति रिपोर्ट का अनुसरण करते हुए 1993 के अधिनियम में प्रस्तुत धारा 19(19) ऐसी कंपनी के विक्रय आगमों के वितरण के समय प्रतिभूत लेनदारों के, जिनमें कर्मकारों के देय भी शामिल हैं । मात्रा के अनुसार प्रभार को संरक्षित करने के लिए सम्मिलित की गई थी । धारा 19(19) के अधीन प्रतिभूत लेनदारों के साथ कर्मकारों की भागीदारी सीमित मात्रा तक ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय आगमों के वितरण में है न कि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध उनके दावों के निर्धारण के लिए है । जैसे ही कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है, कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने और कर्मकारों के भाग को परिमाणित करने के लिए एकमात्र सक्षम प्राधिकारी समापक होता है । जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन होती है वहां कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने

का उत्तरदायित्व और सक्षमता समापक की होती है । (पैरा 67)

धारा 19(19) में आने वाली अभिव्यक्ति "अधिकरण ऐसी कंपनी के विक्रय आगमों को कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के उपबंधों के अनुसार उसके प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित करने का आदेश कर सकेगा" ऋण वसूली अधिकरण को स्वयं धारा 529-क के अधीन कर्मकारों के दावे की परीक्षा, उसका निर्धारण और विनिश्चय करने की शक्ति प्रदान नहीं करती । उपर्युक्त अभिव्यक्ति का अभिप्राय यह है कि जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन हो वहां 1993 के अधीन वसूल किए गए ऐसी कंपनी के विक्रय आगम कंपनी अधिनियम की धारा 529-क का अनुसरण करते हुए उसके प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित किए जाने होते हैं । धारा 19(19) में धारा 529-क का उल्लेख न तो निर्देश द्वारा विधान है और न ही निगमन द्वारा विधान है । इसमें यह अपेक्षित है कि ऋण वसूली अधिकरण को परिसमापनाधीन ऋणी कंपनी के प्रतिभूत लेनदारों और कर्मकारों को समान अनुपात में वितरण करके धारा 529-क की आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए । (पैरा 68)

धारा 19(19) के अंतर्गत वह स्थिति आती है जहां कोई ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन है या ऋणी कंपनी की बाबत एक अंतरिम समापक नियुक्त कर दिया गया है न कि कोई अन्य स्थिति आती है । यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो विक्रय आगमों का प्रतिभूत लेनदारों के बीच 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में वितरण करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है । (पैरा 69)

जहां ऋणी कंपनी के विरुद्ध परिसमापन अर्जी लंबित है किन्तु परिसमापन का कोई आदेश पारित नहीं किया गया है और न ही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय का आदेश करने के समय ऐसी कंपनी की बाबत कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और ऋणी कंपनी की संपत्तियों का विक्रय वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया गया है और विक्रय के आगम प्राप्त कर लिए गए हैं और विक्रय आगमों का संपूर्ण संवितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को कर दिया गया है, वहां ऋणी कंपनी का बाद में समापनाधीन होना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा संवितरण को फिर से खोलने का कोई आधार नहीं है । तथापि, यदि ऋणी कंपनी विक्रय आगमों के पूर्ण और अंतिम संवितरण से पूर्व समापनाधीन हो गई है और समापक नियुक्त कर दिया गया है तो ऋण वसूली अधिकरण द्वारा

असंवितरित आगमों का संवितरण समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । उस स्थिति में, यदि कर्मकारों के देयों का दावा किया जाता है तो ऋण वसूली अधिकरण के पास दो विकल्प उपलब्ध होते हैं । एक विकल्प यह है कि उस बैंक या वित्तीय संस्था को, जिसने ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी से ऋण की वसूली के लिए आवेदन किया है, कर्मकारों के उतने देयों की सीमा तक जितने ऋणी कंपनी के समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं और कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में उपवर्णित अनुपात में कर्मकारों को संदेय हैं, प्रत्यास्थापन क्षतिपूर्ति बंधपत्र प्राप्त करने के पश्चात् वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार देय ऋण मद्धे संवितरित रकम का संदाय किया जा सकता है । दूसरा विकल्प यह है कि ऋण वसूली अधिकरण असंवितरित रकम के एक भाग को अंतरिम रूप से धारा 529(3)(ग) का अनुसरण करते हुए दृष्टांत के अनुसार अनुपात में कर्मकारों के देयों मद्धे पृथक् रख सकता है और अतिशेष रकम का संवितरण आवेदक बैंक या वित्तीय संस्था को ऐसे बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए कर सकता है कि वह कर्मकारों के देयों की, जो कि समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं, उतनी सीमा तक रकम, जो उक्त दृष्टांत के अनुसार कर्मकारों को संवितरित की जा सकने वाली रकम से कम होती है, वापस करेगा । इस प्रकार पृथक् रखी गई रकम समापक को तदर्थ आधार पर समापक द्वारा कर्मकारों के देयों के अंतिम अवधारण पर समायोजन के अधीन रहते हुए कर्मकारों के देयों मद्धे संवितरित की जा सकती है । ऋण वसूली अधिकरण द्वारा प्रथम विकल्प का प्रयोग केवल ऐसी स्थिति में किया जाना चाहिए जहां समापक या कर्मकारों द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों मद्धे वितरण के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है । (पैरा 71)

निष्कर्षों का सार यह है – (i) यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो विक्रय आगमों का प्रतिभूत लेनदारों के बीच 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में वितरण करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है । (ii) जहां कोई कंपनी समापनाधीन है, वहां कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के ऊपर प्रभार सृजित हो जाता है और यह प्रभार मात्रा के अनुसार प्रतिभूत लेनदार के समान है । ऐसा कानूनी प्रभार ऋणी कंपनी के

प्रतिभूत लेनदार द्वारा धारित प्रतिभूति के संबंध में कर्मकारों के भाग की मात्रा तक है । (iii) उपर्युक्त स्थिति वहां भी लागू होती है जहां ऋणी कंपनी की आस्तियों का बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध अभिप्राप्त वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में तब विक्रय किया गया है जब वह समापनाधीन नहीं थी किन्तु इससे पूर्व कि ऐसे विक्रय से प्राप्त आगमों का पूर्णतः और अंतिमतः संवितरण किया जा सकता, कंपनी समापनाधीन हो गई थी । दूसरे शब्दों में, यदि ऋणी कंपनी ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय से प्राप्त आगमों के अंतिम संवितरण होने तक समापनाधीन कंपनी बन जाती है तो धारा 529(1)(ग) के परन्तुक के साथ पठित धारा 529-क प्रवृत्त हो जाती है और कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत ऐसे आगमों पर प्रभार सृजित हो जाता है । (iv) वह अनुपात निकालने के लिए, जिस पर विक्रय आगम ऋणी कंपनी के कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित किए जाने हैं, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख न कि विक्रय की तारीख है । (v) निष्कर्ष (ii) से (iv) वहां यथावश्यक परिवर्तन सहित लागू होंगे जहां ऋणी कंपनी की बाबत अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है । (vi) जहां ऋणी कंपनी के विरुद्ध परिसमापन अर्जी लंबित है किन्तु परिसमापन संबंधी कोई आदेश पारित नहीं किया गया है और न ही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय का आदेश करने के समय ऐसी कंपनी की बाबत कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और ऋणी कंपनी की संपत्तियों का विक्रय वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में कर दिया गया है और विक्रय आगम प्राप्त कर लिए गए हैं और विक्रय आगमों का पूर्ण संवितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को कर दिया गया है वहां ऋणी कंपनी के समापनाधीन हो जाने की पश्चात्वर्ती घटना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा संवितरण को फिर से खोलने के लिए आधार नहीं है । (vii) तथापि, यदि ऋणी कंपनी विक्रय आगमों के पूर्ण और अंतिम संवितरण से पूर्व समापनाधीन हो गई है और समापक की नियुक्ति कर दी गई है तो ऋण वसूली अधिकरण द्वारा असंवितरित आगमों का संवितरण समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । उस स्थिति में, यदि कर्मकारों के देयों के संबंध में दावा किया जाता है तो ऋण वसूली अधिकरण के पास दो विकल्प उपलब्ध होते हैं । एक विकल्प यह है कि उस बैंक या वित्तीय संस्था को, जिसने ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी से ऋण की वसूली के लिए आवेदन किया है, कर्मकारों के उतने देयों की सीमा तक जितने ऋणी

कंपनी के समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं और कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में उपवर्णित अनुपात में कर्मकारों को संदेय हैं, प्रत्यास्थापन क्षतिपूर्ति बंधपत्र प्राप्त करने के पश्चात् वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार देय ऋण मद्धे संवितरित रकम का संदाय किया जा सकता है । दूसरा विकल्प यह है कि ऋण वसूली अधिकरण असंवितरित रकम के एक भाग को अंतरिम रूप से धारा 529(3)(ग) का अनुसरण करते हुए दृष्टांत के अनुसार अनुपात में कर्मकारों के देयों मद्धे पृथक् रख सकता है और अतिशेष रकम का संवितरण आवेदक बैंक या वित्तीय संस्था को ऐसे बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए कर सकता है कि वह कर्मकारों के देयों की, जो कि समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं, उतनी सीमा तक रकम, जो उक्त दृष्टांत के अनुसार कर्मकारों को संवितरित की जा सकने वाली रकम से कम होती है, वापस करेगा । इस प्रकार पृथक् रखी गई रकम समापक को तदर्थ आधार पर समापक द्वारा कर्मकारों के देयों के अंतिम अवधारण पर समायोजन के अधीन रहते हुए कर्मकारों के देयों मद्धे संवितरित की जा सकती है । (viii) ऋण वसूली अधिकरण द्वारा प्रथम विकल्प का प्रयोग केवल ऐसी स्थिति में किया जाना चाहिए जहां समापक या कर्मकारों द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों मद्धे वितरण के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है । (ix) जहां प्रतिभूति का विक्रय 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया गया है वहां विक्रय आगमों का वितरण कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अनुसार केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा न कि किसी अन्य पीठ या प्राधिकारी द्वारा करना होता है । (x) परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार समापन आदेश की तारीख से (या जहां अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है वहां ऐसी नियुक्ति की तारीख से) प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं और वे कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में यथा-स्पष्टीकृत अनुपात में विक्रय आगमों के वितरण के हकदार हो जाते हैं । (xi) 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावे का निर्धारण करने की अधिकारिता प्रदान नहीं करती । समापनाधीन ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन समापक द्वारा किया जाना है । दूसरे शब्दों में, जैसे ही कंपनी समापनाधीन होती है तो कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने के लिए सक्षम प्राधिकारी समापक है जिसे स्पष्ट रूप से

कंपनी न्यायालय के न कि किसी अन्य प्राधिकारी के पर्यवेक्षणाधीन कार्य करना होता है । (xii) धारा 19(19) केवल वहां लागू होती है जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन है या ऐसी कंपनी की बाबत अंतरिम समापक नियुक्त कर दिया गया है । यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है या यदि ऐसी कंपनी की बाबत अंतरिम समापक की नियुक्ति का कोई आदेश नहीं किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो प्रतिभूत लेनदारों के बीच विक्रय आगमों का वितरण 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में करने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है इन निष्कर्षों के आधार पर उन कर्मकारों के दावों पर जो मात्रा के अनुसार संदाय किए जाने के लिए हकदार होने के दावा करते हैं, ऋणी कंपनी के समापक द्वारा न कि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विचार किया जाना चाहिए और उनका न्यायनिर्णयन किया जाना चाहिए । (पैरा 72 और 73)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2013]	(2013) 1 एस. सी. सी. 462 : **जितेन्द्र नाथ सिंह** बनाम **शासकीय समापक और अन्य** ;	17,51,60
[2009]	(2009) 8 एस. सी. सी. 646 : **नाहर इंडस्ट्रियल इंटरप्राइजेज़ लिमिटेड** बनाम **हांगकांग एंड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन** ;	22
[2009]	(2009) 4 एस. सी. सी. 94 : **सैंट्रल बैंक ऑफ इंडिया** बनाम **केरल राज्य और अन्य** ;	58,59
[2006]	(2006) 11 एस. सी. सी. 771 : **राधेश्याम अजीतसरिया और एक अन्य** बनाम **बंगाल चटकल मजदूर यूनियन और अन्य** ;	19,20
[2006]	(2006) 10 एस. सी. सी. 452 : **आई.सी.आई.सी.आई. बैंक लिमिटेड** बनाम **सिडको लैदर्स लिमिटेड और अन्य** ;	57
[2005]	(2005) 8 एस. सी. सी. 190 : **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम और एक अन्य** बनाम **शासकीय समापक और एक अन्य** ;	19,21,26, 55,56,71

[2005]	(2005) 5 एस. सी. सी. 75 : **आन्ध्रा बैंक** बनाम **शासकीय समापक और एक अन्य** ;	19,51,54
[2003]	(2003) 10 एस. सी. सी. 482 : **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स लिमिटेड** बनाम **कर्नाटक राज्य वित्तीय निगम** ;	21,26,53,55
[2000]	(2000) 7 एस. सी. सी. 291 : **आन्ध्र प्रदेश वित्तीय निगम** बनाम **शासकीय समापक** ;	52,53
[2000]	(2000) 4 एस. सी. सी. 406 : **इलाहाबाद बैंक** बनाम **केनरा बैंक और एक अन्य** ;	17,24,26,47,48,50, 51,54,55,61,70
[1993]	ए. आई. आर. 1993 मुम्बई 392 : **महाराष्ट्र राज्य वित्तीय निगम** बनाम **बलारपुर इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड** ।	53

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2005 की सिविल अपील सं. 7045 और 7046.

2004 की रिट याचिका सं. 5293 में मुम्बई उच्च न्यायालय के तारीख 11 अगस्त, 2004 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपीलें ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री भास्कर पी. गुप्ता, एल. नागेश्वर राव, कोलिन गोन्साल्विस, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एस. मधुसूदन बाबू, डा. कैलाश चन्द, ललित भसीन, (सुश्री) नीना गुप्ता, (सुश्री) स्वाति शर्मा, परवेज़ खान, (सुश्री) बीना गुप्ता, एमी शुक्ला, (सुश्री) ज्योति मेंदीरत्ता, (सुश्री) पूजा शर्मा, सोमनाथ पधान, और (सुश्री) अनघ एस. देसाई

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा ने दिया ।

न्या. लोढा – मुम्बई उच्च न्यायालय से ये दो अपीलें तारीख 21

नवम्बर, 2005 को दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ (न्यायमूर्ति बी. पी. सिंह और न्यायमूर्ति आर. वी. रवीन्द्रन) के समक्ष आई थीं । इस न्यायालय ने उस दिन इजाजत प्रदान करते समय यह मत अपनाया था कि ये प्रश्न कि क्या उन कर्मकारों के दावों पर, जिन्होंने मात्रा के अनुसार संदाय का हकदार होने का दावा किया है, शासकीय समापक द्वारा विचार किया जाना है या क्या उनके दावों का न्यायनिर्णयन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा किया जाना है, ऐसे अनेक मामलों में उद्भूत होने संभावित है जहां वसूलियां ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए प्रमाणपत्रों के अनुसरण में की जानी ईप्सित हैं और इसलिए इन अपीलों पर अधिमानतः तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा विचार किया जाना अपेक्षित है । ये अपीलें इस प्रकार हमारे समक्ष आई हैं ।

2. एक अपील में बैंक ऑफ महाराष्ट्र और दूसरी अपील में इंडियन बैंक्स एसोसिएशन अपीलार्थी है । वास्तव में, मुख्य अपील बैंक ऑफ महाराष्ट्र द्वारा की गई है । इंडियन बैंक्स एसोसिएशन उच्च न्यायालय के समक्ष या ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष वाली कार्यवाहियों में पक्षकार नहीं था किन्तु उसने इजाजत प्रदान होने के पश्चात् यह अपील फाइल की है क्योंकि उसकी राय में यदि आक्षेपित निर्णय कार्यान्वित किया गया तो उससे बैंककारी उद्योग पर समग्र रूप से दूरगामी परिणाम होंगे ।

3. जैसा कि प्रतीत होगा, उच्च न्यायालय का संबंध पेपर एंड पल्प कंवर्ज़न्स लिमिटेड (जिसे संक्षेप में 'कंपनी' कहा गया है) के कर्मकारों/कर्मचारियों द्वारा फाइल की गई रिट याचिका से है जिसमें यह प्रार्थना की गई है कि वसूली अधिकारी, ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III को बैंक ऑफ महाराष्ट्र (संक्षेप में 'बैंक') से 3 करोड़ रुपए की रकम वसूल करने का निदेश जारी किया जाए जो कि कंपनी की जंगम संपत्ति के विक्रय से वसूल किया गया धन होने के कारण निकालने की अनुज्ञा दी गई थी और वसूली अधिकारी को यह निदेश भी जारी करने की प्रार्थना की कि वह रिट याचिका से उपाबद्ध सूची के अनुसार कर्मकारों/कर्मचारियों के दावों/देयों का न्यायनिर्णयन करे और न्यायनिर्णयन के पश्चात् उन्हें सभी दावों के मुकाबले पूर्विकता प्रदान करते हुए उन्हें देय रकम उन्मोचित करे । कर्मकारों/कर्मचारियों ने उस रिट याचिका में केन्द्रीय सरकार को यह निदेश देने की भी प्रार्थना की कि वह बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 (जिसे संक्षेप में '1993 का अधिनियम' कहा गया है) के अधीन वसूली अधिकारी द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया अधिकथित

करते हुए नियम बनाए ।

4. कर्मकारों ने उच्च न्यायालय के समक्ष जिन तथ्यों और परिस्थितियों का अवलंब लिया है वे ये हैं : कंपनी ने वर्ष 1980 में किसी समय बैंक से उधार लिया था । वर्ष 1984-85 में कंपनी को नकदी संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ा । कंपनी के लेनदारों में से एक ने वर्ष 1986 में मुम्बई उच्च न्यायालय के समक्ष कंपनी के परिसमापन के लिए 1986 की कंपनी याचिका सं. 604 फाइल की । तारीख 14 जनवरी, 1987 को वह कंपनी याचिका स्वीकार कर ली गई ।

5. कंपनी वर्ष 1992 में बन्द कर दी गई थी । उसी वर्ष, कंपनी द्वारा रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 की धारा 15(1) के अधीन औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड, नई दिल्ली को एक निर्देश किया गया था । तारीख 1 सितम्बर, 1993 को औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड ने कंपनी के परिसमापन के लिए आदेश पारित कर दिया । कंपनी ने औद्योगिक और वित्तीय पुनर्गठन बोर्ड के इस आदेश को अपील प्राधिकारी के समक्ष चुनौती दी किन्तु वह असफल रही ।

6. वर्ष 1995 में या उसके आसपास बैंक ने कंपनी और उसके निदेशकों के विरुद्ध 25,39,08,282.79 रुपए की रकम की उस पर सहमत दर पर भावी ब्याज सहित और सिविल न्यायाधीश, ज्येष्ठ खंड, पनवेल के न्यायालय में लागत की वसूली के लिए एक वाद फाइल किया । उक्त वाद वर्ष 1999 में ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III को अंतरित कर दिया गया और उसे 1999 के मूल आवेदन सं. 344 के रूप में संख्यांकित किया गया था ।

7. तारीख 19 जुलाई, 2001 को ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III ने बैंक द्वारा फाइल किए गए आवेदन को मंजूर कर लिया और कंपनी और उसके निदेशकों को संयुक्त रूप से, पृथक्तः और व्यक्तिगत रूप से 25,49,91,756.94 रुपए की राशि, खर्चे और आवेदन की तारीख से इसकी वसूली की तारीख से तिमाही बकाया के आधार पर 8 प्रतिशत वार्षिक दर पर ब्याज सहित संदत्त करने का निदेश दिया । ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III ने अपने निर्णय में आगे यह निदेश दिया कि कंपनी और उसके निदेशकों द्वारा बैंक को यथा-निदेशित रकम का संदाय करने में असफल रहने की दशा में बैंक कंपनी और निदेशकों की आडमान और बंधकित तथा अन्य स्थावर और जंगम संपत्तियों का विक्रय करने का हकदार होगा और विक्रय आगम देय रकम मद्धे विनियोजित किए जाएंगे ।

8. तारीख 19 जुलाई, 2001 के निर्णय के परिणामस्वरूप, ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III ने तारीख 21 अगस्त, 2001 को वसूली प्रमाणपत्र जारी किया । वसूली प्रमाणपत्र में यह निदेश दिया गया था कि वसूली अधिकारी प्रमाणपत्र के अनुसार रकम की वसूली 1993 के अधिनियम की धारा 25 और धारा 28 में और उसके अधीन विहित रीति और पद्धति में प्रमाणपत्र में यथा-विनिर्दिष्ट प्रमाणपत्र-ऋणियों से करेगा । एक मृत निदेशक के विधिक वारिसों के संबंध में यह निदेश दिया गया था कि वे केवल उस सीमा तक दायी होंगे जिस तक उन्होंने अपने हितपूर्वाधिकारी से संपत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त की है ।

9. वसूली कार्यवाहियों में कंपनी के कर्मकारों/कर्मचारियों ने अपनी एसोसिएशन के माध्यम से तारीख 17 सितम्बर, 2003 को एक आवेदन किया और यह प्रार्थना की कि उन्हें इस मामले में मध्यक्षेप करने की अनुज्ञा दी जाए और कोई नीलामी किए जाने से पूर्व उनके दावे रजिस्ट्रीकृत किए जाएं । कर्मकारों ने कंपनी और उसके प्रबंध निदेशक को एक सूचना भी भेजी जिसमें उनसे उनके देयों का संदाय करने का अनुरोध किया गया । तथापि, कंपनी ने उनके दावे का विरोध किया ।

10. तारीख 22 जनवरी, 2001 को, वसूली अधिकारी ने कंपनी की जंगम संपत्तियों को नीलाम कर दिया और विक्रय आगमों के रूप में 4,70,55,000/- रुपए की रकम प्राप्त की । उस रकम में से 3 करोड़ रुपए तारीख 10 मार्च, 2004 को बैंक को संवितरित कर दिए और 1,70,55,000/- रुपए की शेष रकम कंपनी के कर्मकारों के संभावित दावे मद्धे अलग रख दी गई ।

11. कर्मकारों ने मुम्बई उच्च न्यायालय के समक्ष तारीख 19 मार्च, 2004 को 1986 की कंपनी याचिका सं. 604 में अंतरिम समापक की नियुक्ति के लिए और उपर्युक्त वसूली कार्यवाहियों से उद्भूत ऋण वसूली अधिकरण-III के समक्ष आगे कार्यवाहियों पर रोक लगाने के लिए आवेदन फाइल किया । बैंक ने कंपनी न्यायालय के समक्ष कर्मकारों के आवेदन का विरोध किया और यह दलील दी कि कंपनी की आस्तियों के विक्रय पर किसी अवरोध से न केवल प्रतिभूत लेनदारों बल्कि कर्मकारों के हित पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा ।

12. मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 8 अक्तूबर, 2004 के आदेश द्वारा कंपनी को परिसमाप्त करने का आदेश दिया गया है और शासकीय

समापक को कंपनी अधिनियम के अधीन प्रायिक शक्तियों सहित कंपनी के समापक के रूप में नियुक्त किया गया है ।

13. कर्मकारों ने तारीख 18 जून, 2004 को मुम्बई उच्च न्यायालय के समक्ष ऊपर उल्लिखित अनुतोषों के लिए एक रिट याचिका फाइल की । मुम्बई उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि संदाय और उसकी पूर्विकताओं का अवधारण करने की अधिकारिता 1993 के अधिनियम के अधीन पूर्णतः ऋण वसूली अधिकरण में निहित है और इसलिए कर्मकारों को अपने दावे का अवधारण करने और उसके संबंध में पारिणामिक संदाय के प्रयोजन के लिए ऋण वसूली अधिकरण को समावेदन करना चाहिए । आक्षेपित निर्णय में दिए गए सुसंगत निदेश निम्नलिखित रूप में हैं : –

> "1. ऋण वसूली अधिकरण को 1,17,55,000/- रुपए की राशि प्रतिधारित करने और उसे या तो द्वितीय प्रत्यर्थी को और या किसी अन्य व्यक्ति को तब तक संवितरित न करने का निदेश दिया जाता है जब तक कर्मकारों के दावे का निर्धारण नहीं हो जाता है ।
>
> 2. ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई का पीठासीन अधिकारी याची और कर्मकारों के और विशेष रूप से उन कर्मचारियों के दावों का न्यायनिर्णयन करेगा जिनके नाम प्रदर्श "क" में उपवर्णित हैं और प्रत्येक कर्मकार को या तो बकाया के रूप में या अन्यथा संदेय वेतन का निर्धारण करेगा ।
>
> 3. जैसे ही प्रत्येक कर्मकार के दावे का निर्धारण हो जाता है, ऋण वसूली अधिकरण कर्मकारों के उक्त देयों का भुगतान उसके पास पड़ी उक्त 1,17,55,000/- रुपए की रकम में से करेगा और यदि यह राशि कम पड़ती है तो ऋण वसूली अधिकरण को उक्त बकाया रकम द्वितीय प्रत्यर्थी से 3 करोड़ रुपए की उस राशि में से मंगाने की अनुज्ञा होगी जो कि द्वितीय प्रत्यर्थी द्वारा प्रत्यर्थी सं. 1 की जंगम संपत्तियों की नीलामी विक्रय के विक्रय-आगमों से पहले ही निकाल ली गई है ।
>
> 4. ऋण वसूली अधिकरण इसी बीच 1,17,55,000/- रुपए की उक्त रकम को किसी राष्ट्रीयकृत बैंक में आरंभ में तीन मास की अवधि के लिए और बाद में तीन मास की अतिरिक्त अवधि के लिए नवीकरणीय नियत निक्षेप में जमा कराएगा ।"

14. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय में पूर्विकताओं का अवधारण करने के लिए कर्मकारों और अन्य प्रतिभूत लेनदारों के दावों का न्यायनिर्णयन करते समय अन्य बातों के साथ-साथ ऋण वसूली अधिकरण-III को कतिपय दिशानिर्देश भी जारी किए हैं ।

15. आक्षेपित निर्णय को चुनौती देने के लिए बैंक की ओर से दी गई मुख्य दलील दोहरी है, (एक) किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा धारित प्रतिभूति पर कर्मकारों का कोई दावा या अधिकार नहीं है । उनके देयों का न्यायनिर्णयन किसी समुचित न्यायालय (उदाहरणार्थ, औद्योगिक अधिकरण) में ही तब किया जा सकता है जब कंपनी समापनाधीन न हो और ऋण वसूली अधिकरण को इस संबंध में कोई सक्षमता प्राप्त न हो और (दो) यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन है और प्रतिभूति का ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी के समक्ष वाली कार्यवाहियों में विक्रय कर दिया जाता है तो विक्रय आगम कंपनी अधिनियम, 1956 (जिसे संक्षेप में "कंपनी अधिनियम" कहा गया है) की धारा 529-क के साथ पठित धारा 529(1)(ग) के परन्तुक में अधिकथित कर्मकारों के अंश की सीमित सीमा तक मात्रा के अनुसार प्रभार को ध्यान में रखते हुए वितरित किए जाएंगे ।

16. बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री भास्कर पी. गुप्ता ने उपर्युक्त आधारों का विशदीकरण करते हुए यह दलील दी कि 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण को केवल बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से उन ऋणों के न्यायनिर्णयन और वसूली के लिए, जो ऐसे बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को देय हैं, प्राप्त आवेदनों को ग्रहण करने और उनका विनिश्चय करने की अनन्य अधिकारिता है । ऋण वसूली अधिकरण का प्रमुख प्रयोजन बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के देयों का न्यायनिर्णयन और उनकी वसूली करना है । उसे कतिपय सहायक और आनुषंगिक शक्तियां भी हैं जैसे रिसीवर, व्यादेश, कुर्की इत्यादि द्वारा अंतरिम आदेश देना । बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को देय शोध्यों के निर्धारण करने के पश्चात् वसूली की पद्धति धारा 25 में उपबंधित है । तथापि, ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन करने की कोई शक्ति नहीं दी गई है और 1993 के अधिनियम की धारा 17 या धारा 19 का अन्यथा कोई अर्थ नहीं लगाया जा सकता है । यह न्यायनिर्णयन कर्मकारों और ऋण कंपनी के बीच (जब वह एक चालू समुत्थान है) और कर्मकारों और समापक के बीच जब कंपनी समापनाधीन

है एक सारवान् विषय है । जब ऋणी कंपनी समापनाधीन हो गई है तब धारा 529(1)(ग) का परन्तुक विधिक संकल्पना द्वारा लेनदार की उस प्रतिभूति पर एक सीमित विस्तार तक मात्रा के अनुसार प्रभार सृजित करता है जिसकी कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के साथ पठित 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) के अधीन प्रतिभूति के विक्रय आगम में पूर्विकता के आधार पर लेनदार के साथ वसूली की जा सकती है । जब ऋणी कंपनी समापनाधीन है तब कर्मकारों के देयों का अवधारण शासकीय समापक द्वारा ही धारित प्रभार और उसकी सीमाओं के विस्तार सहित किया जा सकता है । ऋण वसूली अधिकरण के पास ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन करने या उसका विनिश्चय करने की न तो सक्षमता है और न ही मशीनरी ।

17. बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी कि जब तक परिसमापन का आदेश नहीं कर दिया जाता और समापक या अंतरिम समापक की नियुक्ति नहीं कर दी जाती और धारा 443 से धारा 450 तक और धारा 458 में यथा-उपबंधित सभी कदम नहीं उठा लिए जाते तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि कंपनी समापनाधीन है और जब तक कंपनी समापनाधीन नहीं होती है तब तक कर्मकारों का कंपनी की आस्तियों पर कोई दावा नहीं होता है और न ही उन्हें किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा फाइल की गई किसी कार्यवाही में भाग लेने के लिए ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष समावेदन करने का अधिकार होता है क्योंकि वे प्रतिभूत या अन्यथा लेनदार नहीं होते हैं । कर्मकारों के पास अपने देयों के अवधारण और उनकी वसूली के लिए एकमात्र उपचार समुचित न्यायालय, उदाहरणार्थ, औद्योगिक अधिकरण इत्यादि में समावेदन करना है । 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) और कंपनी अधिनियम की धारा 529-क कर्मकारों की सहायता नहीं करते क्योंकि वे प्रतिभूत लेनदार नहीं होते हैं । तथापि, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री भास्कर पी. गुप्ता ने यह दलील दी कि जहां परिसमापन का आदेश किया गया है और कंपनी के विरुद्ध समापन कार्यवाहियां आरंभ हो गई हैं, ऐसे मामले में कंपनी की सभी आस्तियां समापक की अभिरक्षा और उसके नियंत्रण में होंगी । किन्तु ऋण वसूली अधिकरण को अनन्य अधिकारिता प्रदत्त किए जाने के कारण ऋण वसूली अधिकरण द्वारा धारा 17 के अधीन न्यायनिर्णयन और 1993 के अधिनियम के अधीन जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन के लिए कंपनी न्यायालय की इजाजत लेने की आवश्यकता नहीं है । विद्वान् ज्येष्ठ

काउन्सेल ने अपनी दलीलों के समर्थन में **इलाहाबाद बैंक** बनाम **केनरा बैंक और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के पैरा 50, 63, 64 से 70 का अवलंब लिया । उसने **जितेन्द्र नाथ सिंह** बनाम **शासकीय समापक और अन्य**[2] वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया जिसमें **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले निर्णय का अनुसरण किया गया है ।

18. बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी कि धारा 529(3)(ग) के साथ पठित धारा 529(1)(ग) के परन्तुक में अंतर्विष्ट विधिक संकल्पना के आधार पर कर्मकार संबंधित लेनदार के साथ-साथ धारा 19(19) के अधीन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय आगमों के वितरण में एक सीमित विस्तार तक भाग लेने के हकदार हैं । अन्यथा, उनका बिल्कुल भी कोई दावा नहीं हो सकता है । उसने यह दलील दी कि कंपनी अधिनियम की धारा 529(1)(ग) का परन्तुक और धारा 529-क संयुक्त स्कीम का भाग गठित करती है और ये केवल ऐसी कंपनी के मामले में लागू की जा सकती हैं जिसका समापन किया जा रहा है । किसी चालू कंपनी में कर्मकारों के देयों को परिमाणित और अवधारित नहीं किया जाता है और इसलिए कर्मकारों के भाग को भी परिमाणित नहीं किया जा सकता है । कर्मकारों का किसी आस्ति पर कोई प्रभार नहीं होता है । विधिक संकल्पना द्वारा मात्रा के अनुसार प्रभार धारा 529(1)(ग) के परन्तुक के अधीन केवल सीमित विस्तार तक सृजित किया जाता है और इसका अवधारण भी समापक द्वारा न कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है । अतः, धारा 19(19) केवल तभी लागू होती है यदि ऋणी कंपनी का समापन किया जा रहा है न कि अन्यथा ।

19. बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी कि कंपनी अधिनियम की धारा 529 में समापक को उन सभी लेनदारों के देयों का अवधारण करने की, जो परिसमापन में भाग लेते हैं और कंपनी न्यायालय के पर्यवेक्षण के अधीन उनके बीच पूर्विकताओं का अवधारण करने की सक्षमता और उत्तरदायित्व सौंपा गया है । बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री भास्कर पी. गुप्ता ने अपनी दलीलों के समर्थन में **आन्ध्रा बैंक** बनाम **शासकीय समापक और एक अन्य**[3],

---

[1] (2000) 4 एस. सी. सी. 406.
[2] (2013) 1 एस. सी. सी. 462.
[3] (2005) 5 एस. सी. सी. 75.

राधेश्याम अजीतसरिया और एक अन्य बनाम **बंगाल चटकल मजदूर यूनियन और अन्य**[1] और **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम और एक अन्य** बनाम **शासकीय समापक और एक अन्य**[2] वाले मामलों का भी अवलंब लिया ।

20. इंडियन बैंक्स एसोसिएशन की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री एल. नागेश्वर राव ने श्री भास्कर पी. गुप्ता की दलीलों को अंगीकार कर लिया और इसके अलावा यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने इस मूल भ्रम के आधार पर कार्यवाही की कि कर्मकारों का सुसंगत समय पर मात्रा के अनुसार प्रभार था । श्री एल. नागेश्वर राव के अनुसार (क) ऋण वसूली अधिकरण-III के उस निर्णय के जिसके द्वारा तारीख 19 जुलाई, 2001 को बैंक का दावा अनुज्ञात किया गया था, सुसंगत समय पर (ख) तारीख 21 अगस्त, 2001 का वसूली प्रमाणपत्र जारी किए जाने के सुसंगत समय पर, (ग) तारीख 22 जनवरी, 2004 को जंगम संपत्तियों के विक्रय के सुसंगत समय पर और (घ) तारीख 10 मार्च, 2004 को बैंक (प्रतिभूत लेनदार) को आंशिक विक्रय आगमों के संदाय के सुसंगत समय पर कंपनी के विरुद्ध कंपनी अधिनियम की धारा 443(घ) के अधीन कोई परिसमापन आदेश पारित नहीं किया गया था और कंपनी की संपत्तियां धारा 456 के निबंधनानुसार शासकीय समापक की अभिरक्षा में नहीं आई थीं । मामले को इस दृष्टि से देखते हुए कर्मकारों को धारा 529-क के प्रयोजनों के लिए कंपनी की आस्तियों पर कोई प्रतिभूत प्रभार प्राप्त नहीं था । तदनुसार, उसने यह दलील दी कि जब कर्मकार कंपनी अधिनियम के अधीन ही दावा नहीं कर सकते हैं तो वे 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) के अधीन भी दावा नहीं कर सकते हैं । इस संबंध में, श्री एल. नागेश्वर राव ने **राधेश्याम अजीतसरिया** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया ।

21. श्री एल. नागेश्वर राव ने **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स लिमिटेड** बनाम **कर्नाटक राज्य वित्तीय निगम**[3] और **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि कर्मकारों के दावे पर केवल 1993 के अधिनियम की धारा

---

[1] (2006) 11 एस. सी. सी. 771.

[2] (2005) 8 एस. सी. सी. 190.

[3] (2003) 10 एस. सी. सी. 482.

19(19) के अधीन विचार किया जा सकता है जहां कि परिसमापन आदेश किया गया है और कंपनी की आस्तियां समापक की अभिरक्षा में हैं ।

22. श्री एल. नागेश्वर राव ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से गलत था क्योंकि ऋण वसूली अधिकरण कानून द्वारा बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के फायदे के लिए न कि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए विनिर्दिष्ट विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए सृजित एक सीमित अधिकरण है । ऋण वसूली अधिकरण असीमित अधिकारिता वाला सिविल न्यायालय नहीं है या ऐसा कंपनी न्यायालय नहीं है जिसे उन सभी विवादों पर विचार करने की विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं जो परिसमापन संबंधी कार्यवाहियों में कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करते समय उद्भूत हो सकते हैं । इस संबंध में, उसने **नाहर इंडस्ट्रियल इंटरप्राइजेज़ लिमिटेड** बनाम **हांगकांग एंड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया और यह दलील दी कि किसी ऋण वसूली अधिकरण के लिए धारा 529-क के अधीन कर्मकारों के दावों की स्वयं परीक्षा, निर्धारण और विनिश्चय करना अधिकारिता की दृष्टि से अनुचित और संपूर्णतः विसंगत होगा ।

23. यहां यह उल्लेखनीय है कि जनरल इंडस्ट्रीज़ कामगार यूनियन (जिसे संक्षेप में 'कामगार यूनियन' कहा गया है) ने इन अपीलों में से एक अपील में 2005 का अंतरिम आवेदन सं. 3 फाइल किया था जिसमें यह प्रार्थना की गई थी कि उन्हें पक्षकार के रूप में शामिल किया जाए चूंकि वह कंपनी में नियोजित कर्मकारों का एक रजिस्ट्रीकृत व्यवसाय संघ है और वह कर्मकारों के समस्त निकाय का प्रतिनिधित्व करता है । इन अपीलों में अंतर्वलित संविवाद को ध्यान में रखते हुए हमने कामगार यूनियन की सुनवाई करना उपयुक्त समझा क्योंकि वह कर्मकारों के समस्त निकाय का, जिसमें प्रत्यर्थी भी हैं, प्रतिनिधित्व करता है ।

24. कामगार यूनियन की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री कोलिन गोन्साल्विस ने उच्च न्यायालय के आदेश की दृढ़ता से प्रतिरक्षा की । उसने यह दलील दी कि अपीलार्थियों का यह तर्क कि किसी कंपनी का परिसमापन केवल तभी आरंभ होता है जब परिसमापन संबंधी आदेश कर दिया जाता है, भ्रामक है क्योंकि इसमें कंपनी अधिनियम की धारा 441(2) को अनदेखा किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि धारा 441 की

---

[1] (2009) 8 एस. सी. सी. 646.

उपधारा (1) के अंतर्गत आने वाले मामलों से भिन्न मामलों में किसी कंपनी के परिसमापन के बारे में यह समझा जाएगा कि वह परिसमापन के लिए याचिका प्रस्तुत करने के समय से आरंभ हो गया था । प्रस्तुत मामले में, कंपनी का परिसमापन तारीख 1 सितम्बर, 1993 के आदेश से आरंभ हो गया है जिसके द्वारा बी. आई. एफ. आर. ने रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 की धारा 20 के अधीन कंपनी के परिसमापन की सिफारिश की थी । कामगार यूनियन की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल के अनुसार प्रस्तुत मामला परिसमापनाधीन कंपनी का मामला है क्योंकि रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 की धारा 20 न्यायालय के लिए बी. आई. एफ. आर. की सिफारिश पर परिसमापन संबंधी आदेश करना आज्ञापक बनाती है । उसने इस संबंध में **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैरा 50 के प्रति भी निर्देश किया ।

25. जहां तक 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) का संबंध है, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी कि यह उपबंध ऐसी स्थिति तक निर्बंधित नहीं है जहां कंपनी परिसमापनाधीन है; इसमें वे स्थितियां भी आती हैं जहां कि कंपनी यद्यपि परिसमापनाधीन नहीं है तथापि, यदि कंपनी की आस्तियों का विक्रय नहीं किया गया और उसके आगम बैंक और वित्तीय संस्थाओं को सौंपे नहीं गए तो वह दिखावा मात्र रह जाएगी । पश्चात्वर्ती परिस्थितियों में, ऋण वसूली अधिकरण का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी स्थिति की प्रत्याशा करे और यदि ऋण वसूली अधिकरण इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि आस्तियों का विक्रय करने और उसके आगमों का बैंक और/या वित्तीय संस्थाओं को भुगतान करने से कर्मकारों के देय का भुगतान करने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचेगा तो वह आगमों को बैंकों और वित्तीय संस्थाओं, अन्य प्रतिभूत लेनदारों और कर्मकारों के बीच इस प्रकार संवितरित करने के लिए बाध्य है मानो कंपनी अधिनियम की धारा 529-क लागू होती है । कामगार यूनियन की ओर से यह दलील दी गई थी कि 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) की सूक्ष्म संवीक्षा करने पर यह उपदर्शित होगा कि यह निर्देश द्वारा बनाया गया विधान है न कि निगमन द्वारा बनाया गया विधान है और इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि धारा 19(19) के उपबंधों को लागू करने के लिए कंपनी अवश्य ही समापनाधीन होनी चाहिए ।

26. श्री कोलिन गोन्साल्विस ने **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का जोरदार रूप से

अवलंब लिया और यह दलील दी कि समापनाधीन कंपनियों की बाबत कंपनी न्यायालय और ऋण वसूली अधिकरण की अधिकारिता का मुद्दा **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) और **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चयों के बीच प्रकट विरोधाभास के कारण तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ को निर्देशित किया गया था । उसने **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में रिपोर्ट के पैरा 16 और 17 के प्रति विशिष्ट रूप से उल्लेख किया और यह दलील दी कि शासकीय समापक लेनदारों के समस्त निकाय का प्रतिनिधित्व करता है और कर्मकारों की ओर से प्रतिभूत लेनदारों के समान वितरण कराने का अधिकार भी धारित करता है । शासकीय समापक का आगमों को कंपनी न्यायालय के निदेशों के अधीन कंपनी अधिनियम की धारा 530 में अंतर्विष्ट अधिमान के आधार पर आगे वितरित करने का कर्तव्य है और इसलिए यह सुनिश्चित करने के लिए कि वितरण की स्कीम उचित रूप से तैयार की जाए, शासकीय समापक को विक्रय की प्रक्रिया से सहबद्ध करना आवश्यक है जिससे कि वह कंपनी न्यायालय के निदेशों के प्रकाश में यह सुनिश्चित कर सके कि समापनाधीन कंपनी की आस्तियों की उचित कीमत प्राप्त हो । श्री कोलिन गोन्साल्विस की दलील यह है कि जब मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा आक्षेपित निर्णय पारित किया गया था तब **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाला निर्णय उस क्षेत्र में लागू होता था और उच्च न्यायालय ने उसके आधार पर ऋण वसूली अधिकरण को दिशानिर्देश जारी किए थे । इसके बाद, **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में अनन्य अधिकारिता से संबंधित **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले निर्णय की मूल प्रतिपादना के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह मान्य है । इस प्रकार, उसने यह दलील दी कि **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में अधिकथित विधि को ध्यान में रखते हुए ऐसे मामलों को जहां ऋणी एक कंपनी है और समापनाधीन है, कंपनी अधिनियम की धारा 529 के साथ पठित धारा 529-क के लागू होने के प्रश्न के संबंध में कोई विरोधाभास नहीं हो सकता है ।

27. श्री कोलिन गोन्साल्विस ने यह दलील दी कि आक्षेपित निर्णय की तारीख से पूर्व बेची गई आस्तियों की बाबत सभी विक्रय आगम बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के पास लाए जाने चाहिएं; आस्तियों के सभी भावी विक्रय उच्च न्यायालय के पर्यवेक्षण के अधीन किए जाने चाहिएं; शासकीय समापक, मुम्बई उच्च न्यायालय को

कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों और कर्मकारों के देयों के अपने-अपने भाग की संगणना करनी चाहिए और इसके बाद ऋण वसूली अधिकरण को विक्रय आगमों का वितरण उच्च न्यायालय के निदेशानुसार और विधि के अनुसार करना चाहिए ।

28. अभिलेख की सावधानीपूर्वक परीक्षा करने पर हम यह पाते हैं कि बैंक की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल द्वारा दी गई यह दलील कि कंपनी, कंपनी अधिनियम की धारा 529 और धारा 529-क के अर्थान्तर्गत परिसमापनाधीन नहीं है इस गलत उपधारणा पर आधारित है कि कंपनी के समापन के लिए कोई आदेश नहीं किया गया है । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल किए गए 2013 के अंतरिम आवेदन सं. 7 में शासकीय समापक की तारीख 1 अगस्त, 2011 की रिपोर्ट की प्रति अभिलेख पर रखी गई है । उससे यह प्रकट होता है कि तारीख 8 अक्तूबर, 2004 को कंपनी न्यायाधीश ने कंपनी का समापन करने का आदेश किया है और शासकीय समापक को कंपनी अधिनियम के अधीन प्रायिक शक्तियों सहित कंपनी के समापक के रूप में नियुक्त किया गया है । अतः, इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि तारीख 8 अक्तूबर, 2004 से कंपनी समापनाधीन है और शासकीय समापक की नियुक्ति हो गई है ।

29. उपर्युक्त तथ्यात्मक स्थिति की पृष्ठभूमि में हम यह समझते हैं कि निर्देश संबंधी आदेश में विरचित प्रश्न की परीक्षा हमारे द्वारा की जा सकती है ।

30. प्रथमतः, 1993 के अधिनियम और कंपनी अधिनियम के कुछ उपबंधों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है । तब इस प्रश्न का उत्तर कानूनी उपबंधों के प्रकाश में सुविधापूर्वक दिया जा सकता है ।

31. 1993 के अधिनियम की धारा 2(घ) में 'बैंक' की परिभाषा दी गई है, जिससे अन्य बातों के साथ-साथ कोई बैंककारी कंपनी अभिप्रेत है । धारा 2(ङ) के अधीन 'बैंककारी कंपनी' का वही अर्थ है जो बैंककारी विनियमन अधिनियम, 1949 की धारा 5 के खंड (ग) में है । 'वित्तीय संस्था' की परिभाषा धारा 2(ज) में दी गई है । धारा 3 के अधीन स्थापित 'अधिकरण' ऋण वसूली अधिकरण के रूप में जाना जाता है । धारा 17 के अधीन अधिकरण (ऋण वसूली अधिकरण) को बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली के लिए ऐसे बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से आवेदन ग्रहण करने और उनका विनिश्चय करने की अधिकारिता, शक्तियां

और प्राधिकार प्रदत्त किया गया है । धारा 18 उच्चतम न्यायालय और संविधान के अनुच्छेद 226 और अनुच्छेद 227 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले किसी उच्च न्यायालय के सिवाय अन्य सभी न्यायालयों और अन्य प्राधिकारियों को धारा 17 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में किसी अधिकारिता से वर्जित करती है ।

32. धारा 19 में ऐसी दशा में ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष आवेदन करने के लिए एक व्यापक प्रक्रिया का उपबंध किया गया है जहां किसी बैंक या वित्तीय संस्था को किसी व्यक्ति से कोई ऋण वसूल करना है । इसमें ऋण वसूली अधिकरण को वसूली प्रमाणपत्र जारी करने, उसके निष्पादन और ऐसे सभी आदेश और निदेश जारी करने के लिए भी समर्थ बनाया गया है जो उसके आदेशों को प्रभावी करने या उसकी प्रक्रिया का दुरुपयोग रोकने या न्याय के हितों की प्राप्ति के लिए आवश्यक हों । अनावश्यक खंडों का लोप करते हुए, धारा 19 जहां तक वह इन अपीलों पर विचार करने के प्रयोजनों के लिए सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में प्रोद्धृत की जाती है :–

> "धारा 19. **अधिकरण को आवेदन** – (1) जहां किसी बैंक या वित्तीय संस्था को किसी व्यक्ति से कोई ऋण वसूल करना है वहां वह ऐसे अधिकरण को आवेदन कर सकेगा जिसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर, -
>
> > (19) जहां वसूली का कोई प्रमाणपत्र कंपनी अधिनियम, 1956 (1956 का 1) के अधीन रजिस्ट्रीकृत किसी कंपनी के विरुद्ध जारी किया जाता है वहां अधिकरण ऐसी कंपनी के विक्रय आगमों का कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529-क के उपबंधों के अनुसार उसके प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण करने और अतिशेष का, यदि कोई हो, कंपनी को संदाय करने का आदेश कर सकेगा ।
> >
> > (22) पीठासीन अधिकारी अधिकरण के आदेश के आधार पर अपने हस्ताक्षर सहित एक प्रमाणपत्र, ऐसे प्रमाणपत्र में विनिर्दिष्ट ऋण की रकम की वसूली के लिए वसूली अधिकारी को जारी करेगा ।
> >
> > (25) अधिकरण ऐसे आदेश कर सकेगा और ऐसे निदेश दे सकेगा, जो इसके आदेश को प्रभावी करने या उसकी प्रक्रिया

का दुरुपयोग रोकने या न्याय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक या समीचीन हो ।"

33. धारा 22, अन्य बातों के साथ-साथ ऋण वसूली अधिकरण को अपनी प्रक्रिया का विनियमन करने की शक्ति प्रदान करती है । वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 द्वारा अधिकथित प्रक्रिया से आबद्ध नहीं है किन्तु नैसर्गिक न्याय के सिद्धातों द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करेगा और 1993 के अधिनियम और उसके अधीन विरचित नियमों के अध्यधीन होगा । उसे वही शक्तियां प्राप्त हैं जो धारा 22(2) में उपवर्णित विषयों की बाबत सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन किसी सिविल न्यायालय में निहित हैं ।

34. धारा 25 में ऋणों की वसूली के ढंगों का उपबंध किया गया है । वसूली अधिकारी को वसूली प्रमाणपत्र की प्रति की प्राप्ति पर प्रमाणपत्र में विनिर्दिष्ट ऋण की रकम को उस धारा में उपवर्णित ढंगों में से किसी एक या अधिक ढंग द्वारा वसूल करने के लिए कार्यवाही करनी होगी जिनमें प्रमाणपत्र ऋणी की जंगम या स्थावर संपत्ति की कुर्की और विक्रय भी है । धारा 28 के अधीन, वसूली अधिकारी धारा 25 में विनिर्दिष्ट वसूली के ढंगों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, इसके अधीन उपबंधित ढंगों में से किसी एक या अधिक ढंग से ऋण की रकम को वसूल कर सकेगा । धारा 28(4) में यह उपबंध किया गया है कि वसूली अधिकारी, उस न्यायालय की जिसकी अभिरक्षा में प्रमाणपत्र ऋणी का धन है, ऐसे धन की पूरी रकम का या यदि वह शोध्य ऋण की रकम से अधिक है, तो उतनी रकम का जितनी इस प्रकार शोध्य रकम के उन्मोचन के लिए पर्याप्त है, यह आवेदन कर सकेगा कि उसको संदाय किया जाए ।

35. धारा 34 में 1993 के अधिनियम को अध्यारोही प्रभाव दिया गया है । उसकी उपधारा (1) में यह उपबंध है कि 1993 के अधिनियम के उपबंध किसी अन्य विधि में या किसी विधि के आधार पर प्रभाव रखने वाली किसी लिखत में उससे असंगत किसी बात के होते हुए भी, प्रभावी होंगे । धारा 34 की उपधारा (2) में यह उपबंध किया गया है कि 1993 के अधिनियम के उपबंध या उसके अधीन बनाए गए नियम उसमें वर्णित अधिनियमितियों के अतिरिक्त होंगे न कि उनके अल्पीकरण में ।

36. धारा 36 केन्द्रीय सरकार को 1993 के अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने के लिए सशक्त करती है । केन्द्रीय सरकार ने, धारा 36 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए

ऋण वसूली अधिकरण (प्रक्रिया) नियम, 1993 विरचित किए हैं ।

37. कंपनी अधिनियम में कंपनी (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 2002 (2003 का 11) द्वारा सारवान् संशोधन किए गए हैं किन्तु 2003 के अधिनियम सं. 11 को प्रभावी करने के लिए अब तक कोई अधिसूचना जारी नहीं की गई है । यद्यपि धारा 441 उपर्युक्त संशोधन अधिनियम की धारा 56 द्वारा प्रतिस्थापित की गई है किन्तु चूंकि वह अब तक प्रवृत्त नहीं हुई है इसलिए हम धारा 441 को उस रूप में उद्धृत करते हैं जैसी वह संशोधन से पूर्व थी :–

> "धारा 441. **न्यायालय द्वारा परिसमापन का प्रारंभ** – (1) जहां कि कंपनी ने स्वेच्छा से परिसमापन किए जाने के लिए संकल्प न्यायालय द्वारा कंपनी का परिसमापन किए जाने के लिए अर्जी के उपस्थित किए जाने के पूर्व पारित कर दिया है वहां कंपनी के परिसमापन की बाबत यह समझा जाएगा कि वह उस संकल्प के पारित किए जाने के समय प्रारंभ हो गया है और जब तक कि न्यायालय कपट या भूल के साबित कर दिए जाने पर अन्यथा निदेश देना ठीक नहीं समझता उन सब कार्यवाहियों की बाबत, जो स्वेच्छा से परिसमापन में की गई है, यह समझा जाएगा कि वे विधिमान्यतः की गई है ।
>
> (2) किसी अन्य दशा में, कंपनी का न्यायालय द्वारा परिसमापन किए जाने की बाबत यह समझा जाएगा कि वह परिसमापन की अर्जी की उपस्थिति के समय प्रारंभ हुआ है ।"

38. धारा 443 में अर्जी की सुनवाई पर न्यायालय की शक्तियों के संबंध में उपबंध किया गया है जिसमें उसे अन्य बातों के साथ-साथ कंपनी के परिसमापन के लिए आदेश करने और ऐसा कोई अंतरिम आदेश करने के लिए, जैसा वह ठीक समझता है, समर्थ बनाया गया है ।

39. परिसमापन आदेश के प्रभाव के संबंध में धारा 447 में उपबंध किया गया है । तदनुसार, किसी कंपनी के परिसमापन का आदेश कंपनी के सभी लेनदारों और सभी अभिदायियों के पक्ष में ऐसे प्रवृत्त होता है मानो वह लेनदार और अभिदायी की संयुक्त अर्जी पर किया गया है ।

40. शासकीय समापक की नियुक्ति के संबंध में, जहां कि उसका संबंध कंपनी के परिसमापन से है, धारा 448 में उपबंध किया गया है । धारा 451 समापकों के बारे में साधारण उपबंधों के संबंध में है । इसमें

अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंध किया गया है कि समापक कंपनी के परिसमापन की कार्यवाहियां संचालित करेगा और उसके बारे में ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जैसे न्यायालय अधिरोपित करे ।

41. धारा 456 में यह उपबंधित है कि जहां कि परिसमापन का आदेश कर दिया गया है या जहां कि अंतरिम समापक नियुक्त कर दिया गया है वहां यथास्थिति, समापक या अंतरिम समापक वह सब संपत्ति, मालमत्ता और अनुयोज्य दावे, जिनकी कंपनी हकदार है या हकदार प्रतीत होती है, अपनी अभिरक्षा में या अपने नियंत्रण के अधीन ले लेगा ।

42. धारा 457 समापक को उपधारा (1) के पैरा (क) से (ङ) में कथित कार्य न्यायालय की मंजूरी से करने की शक्ति देती है । न्यायालय द्वारा परिसमापन की दशा में समापक को उपधारा (2) के खंड (i) से (iv) में उपवर्णित सभी कार्य करने की शक्ति है ।

43. धारा 529, जहां तक वह सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में है :–

"धारा 529. – **दिवालिया कंपनियों के परिसमापन में दिवाला विषयक नियमों का लागू होना** – (1) दिवालिया कंपनी के परिसमापन में –

.....

(ग) प्रतिभूत और अप्रतिभूत लेनदारों के अपने-अपने अधिकारों के,

बारे में वे ही नियम प्रभावी होंगे तथा उनका अनुपालन किया जाएगा जो दिवालिया न्यायनिर्णीत व्यक्तियों की संपदाओं के बारे में दिवाला विषयक विधि के अधीन तत्समय प्रवृत्त हैं :

परन्तु प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उसमें कर्मकार के भाग की मात्रा तक कर्मकार के पक्ष में, मात्रा के अनुसार प्रभार के अधीन है और जहां प्रतिभूत लेनदार अपनी प्रतिभूति को त्यागने और अपना ऋण साबित करने के बदले में अपनी प्रतिभूति को वसूल करने का विकल्प करता है, वहां –

(क) समापक, कर्मकार का प्रतिनिधित्व करने का और ऐसे प्रभार का प्रवर्तन करने का हकदार होगा ;

(ख) ऐसे प्रभार के प्रवर्तन के रूप में समापक द्वारा वसूल की गई किसी रकम का कर्मकार को शोध्य धन के उन्मोचन के लिए

आनुपातिक रूप से उपयोग किया जाएगा ; और

(ग) ऐसे प्रतिभूत लेनदार को उतना शोध्य ऋण, जो इस परन्तुक के पूर्वगामी उपबंधों के अनुसार उसके द्वारा वसूल नहीं किया जा सका है या उसकी प्रतिभूति में उस कर्मकार के भाग की रकम, इनमें से जो भी कम हो, धारा 529-क के प्रयोजनों के लिए कर्मकार के शोध्य धन की मात्रा के अनुसार होगी ।

(2).....

(3) इस धारा, धारा 529-क और धारा 530 के प्रयोजनों के लिए, –

(क) किसी कंपनी के संबंध में 'कर्मकार' से कंपनी का ऐसा कर्मचारी अभिप्रेत है जो औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (1947 का 14) के अर्थ में कर्मकार है ;

(ख) किसी कंपनी के संबंध में 'कर्मकार का शोध्य धन' से कंपनी द्वारा अपने कर्मकार को शोध्य निम्नलिखित राशियों का योग अभिप्रेत है, अर्थात् –

(i) से (iv) .....

(ग) किसी कंपनी के किसी प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के संबंध में 'कर्मकार का भाग' से ऐसी रकम अभिप्रेत है जिसका प्रतिभूति के मूल्य से वही अनुपात है जो कर्मकार को शोध्य धन की रकम का निम्नलिखित के योग से है –

(i) कर्मकार के शोध्य धन की रकम ; और

(ii) प्रतिभूत लेनदारों की शोध्य ऋणों की रकम ।

दृष्टांत – किसी प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति का मूल्य 1,00,000/- रुपए है । कर्मकार के शोध्य धन की कुल रकम 1,00,000/- रुपए है । कंपनी द्वारा अपने प्रतिभूत लेनदारों को शोध्य ऋणों की रकम 3,00,000/- रुपए है । कर्मकार के शोध्य धन की रकम और प्रतिभूत लेनदारों को शोध्य ऋणों की रकमों का योग 4,00,000/- रुपए है । अतः प्रतिभूति में कर्मकार का भाग प्रतिभूति के मूल्य का एक-चौथाई अर्थात्, 25,000/- रुपए है ।"

44. इन अपीलों के विचारार्थ धारा 529-क महत्वपूर्ण है और वह

यथावत् रूप में उद्धृत की जाती है : –

"धारा 529-क. **अध्यारोही अधिमानी संदाय** – (1) इस अधिनियम के किसी अन्य उपबंध में या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, किसी कंपनी के परिसमापन में -

(क) कर्मकार को शोध्य धन ; और

(ख) प्रतिभूत लेनदारों को उस मात्रा तक शोध्य ऋण जिस तक ऐसे ऋण धारा 529 की उपधारा (1) के परन्तुक के खंड (ग) के अधीन ऐसे शोध्य धन की मात्रा के अनुसार हैं,

सभी अन्य ऋणों पर पूर्विकता के अनुसार संदत्त किए जाएंगे ।

(2) उपधारा (1) के खंड (क) और खंड (ख) के अधीन संदेय ऋणों का पूर्ण संदाय किया जाएगा जब तक आस्तियां उनको चुकाने के लिए अपर्याप्त नहीं हैं और ऐसी दशा में उनमें समान अनुपात में कमी की जाएगी ।"

45. इससे तुरंत यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि 1993 के अधिनियम द्वारा न केवल ऋण वसूली अधिकरण पर धारा 17 में विनिर्दिष्ट विषयों का अवधारण करने के लिए अनन्य अधिकारिता प्रदत्त की गई है बल्कि इसके द्वारा ऐसे मामलों को ग्रहण करने और उनका विनिश्चय करने के संबंध में अन्य सभी न्यायालयों और अन्य प्राधिकारियों की अधिकारिता भी छीन ली गई है । तथापि, अनुच्छेद 226 और अनुच्छेद 227 के अधीन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय की शक्तियां अप्रभावित रही हैं । बैंकों या वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली के लिए आवेदनों का विनिश्चय 1993 के अधिनियम के प्रवर्तन में आने के पश्चात् केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा न कि किसी अन्य न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । दूसरे शब्दों में, धारा 17 में विनिर्दिष्ट विषयों के संबंध में ऋण वसूली अधिकरण की अधिकारिता अनन्य है ।

46. ऋण वसूली अधिकरण को बैंकों या वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली के लिए आवेदन का न्यायनिर्णयन करने पर वसूली प्रमाणपत्र जारी करने की शक्ति भी निहित की गई है । वसूली प्रमाणपत्र जारी कर दिए जाने पर उसके निष्पादन के संबंध में अनन्य अधिकारिता वसूली अधिकारी को प्रदत्त की गई है । ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार ऋण की वसूली के लिए संपूर्ण

प्रक्रिया 1993 के अधिनियम में अधिकथित की गई है । तदनुसार, दायित्व का न्यायनिर्णयन और प्रमाणपत्र के निष्पादन द्वारा रकम की वसूली क्रमशः ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी की अनन्य अधिकारिता के भीतर हैं और 1993 के अधिनियम में यथाउपबंधित के सिवाय कोई अन्य न्यायालय या प्राधिकारी उक्त प्रश्नों की परीक्षा नहीं कर सकता है ।

47. **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में कंपनी अधिनियम के उपबंधों पर 1993 के अधिनियम के प्रभाव से संबंधित मुद्दे इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ उद्भूत हुए थे । उस मामले में निम्नलिखित छह मुद्दे अवधारणार्थ विरचित किए गए थे :–

(1) क्या बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम के अधीन की जाने वाली कार्यवाहियों में बैंकों या वित्तीय संस्थाओं को शोध्य धन के न्यायनिर्णयन के प्रक्रम पर और बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम के अधीन धन की वसूली के निष्पादन के प्रक्रम पर अधिकरण और वसूली अधिकारियों को उनके अपने-अपने क्षेत्रों में अनन्य अधिकारिता प्रदत्त है ?

(2) क्या बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम के अधीन बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा विभिन्न कार्यवहियां आरंभ करने के लिए कंपनी के विरुद्ध परिसमापन आदेश पारित किए जाने से पूर्व या धारा 446(1) के अधीन अंतरिम समापक नियुक्त किए जाने से पूर्व धारा 537 के अधीन कंपनी न्यायालय की इजाजत आवश्यक है और क्या कंपनी न्यायालय धारा 442 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिकरण के समक्ष कार्यवाहियों को रोकने के आदेश पारित कर सकता है ?

(3) क्या कंपनी अधिनियम की धारा 446(1) के अधीन परिसमापन आदेश पारित किए जाने या कोई अंतरिम समापक नियुक्त किए जाने के पश्चात् कंपनी न्यायालय बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों पर रोक लगा सकता है, उन्हें अपने पास अंतरित कर सकता है और कंपनी अधिनियम की धारा 529, धारा 529-क और धारा 530 इत्यादि के साथ पठित धारा 446(2) और (3) के अधीन दायित्व, निष्पादन और पूर्विकता के प्रश्नों का विनिश्चय भी कर सकता है या क्या ये प्रश्न अधिकरण की अनन्य अधिकारिता के भीतर आते हैं ?

(4) क्या यदि यह विनिश्चय किया जाता है कि धन का वितरण केवल अधिकरण द्वारा किया जाना है तो बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम के अधीन अधिकरण के समक्ष वाली कार्यवाहियों को धारा 529-क के अलावा – सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 73 के उपबंध और कंपनी अधिनियम की धारा 529 की उपधारा (1) और (2) और धारा 530 के उपबंध भी लागू होंगे ?

(5) क्या 2000 के अध्यादेश द्वारा यथा-पुरःस्थापित धारा 19(2) और धारा 19(19) में के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए अधिकरण केवल बैंक को अपीलार्थी द्वारा वसूल किए गए संपूर्ण विक्रय आगमों को धारा 529-क द्वारा निर्बंधित सीमा तक के सिवाय समायोजित करने की अनुज्ञा दे सकता है । क्या प्रतिभूत लेनदार जैसे केनरा बैंक वसूली अधिकारी द्वारा की गई वसूलियों के किसी भाग का धारा 19(19) के अधीन दावा कर सकता है और क्या ऐसे मामलों के बीच अंतर है जहां प्रतिभूत लेनदार परिसमापन से बाहर रहने का विकल्प अपनाता है और जहां वह कंपनी न्यायालय के समक्ष जाता है ।

(6) मामले के तथ्यों के आधार पर कौन सा अनुतोष मंजूर किया जाना है चूंकि वसूली अधिकारी ने अब कंपनी की कुछ संपत्तियों का विक्रय कर दिया है और धनराशियां भागतः अधिकरण के पास और भागतः इस न्यायालय में हैं ।

48. इस न्यायालय ने **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रथम मुद्दे के संबंध में यह अभिनिर्धारित किया कि दायित्व का न्यायनिर्णयन और प्रमाणपत्र के निष्पादन द्वारा रकम की वसूली करना क्रमशः ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी की अनन्य अधिकारिता के भीतर हैं और सिविल न्यायालय या कंपनी न्यायालय की तो बात तो दूर कोई अन्य न्यायालय या प्राधिकारी भी 1993 के अधिनियम में उपबंधित के सिवाय दायित्व और वसूली से संबंधित उक्त प्रश्नों की जांच नहीं कर सकता है । दूसरे और तीसरे मुद्दे के संबंध में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 17 के अधीन न्यायनिर्णयन और धारा 25 के अधीन प्रमाणपत्र के निष्पादन के प्रक्रम पर 1993 के अधिनियम के उपबंध ऋण वसूली अधिकरण और वसूली अधिकारी को बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को संदेय ऋणों की बाबत अनन्य अधिकारिता प्रदत्त करते हैं और कंपनी न्यायालय द्वारा कंपनी अधिनियम की धारा 537 के साथ पठित धारा 442 के अधीन या धारा 448 के अधीन कोई हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है । 1993 के अधिनियम के

अधीन वसूली की गई धनराशियों की बाबत बैंकों और वित्तीय संस्थाओं तथा अन्य लेनदारों के बीच पूर्विकता के प्रश्न का विनिश्चय केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा और कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के साथ पठित धारा 19(19) के अनुसार न कि किसी अन्य रीति में किया जा सकता है । कंपनी अधिनियम में इस सीमा तक 1993 के अधिनियम के उपबंधों को स्वीकार किया जाना चाहिए । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह स्थिति ऋणी कंपनी के विरुद्ध परिसमापन अर्जी के लंबित रहने के दौरान और परिसमापन आदेश पारित किए जाने के पश्चात् भी मान्य है । 1993 के अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां शुरू करने या जारी रखने के लिए कंपनी न्यायालय की इजाजत आवश्यक नहीं थी ।

49. चौथे और पांचवें मुद्दे के संबंध में इस न्यायालय ने इस विधिक स्थिति का कथन किया कि यह कहना सही नहीं था कि 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) सभी "प्रतिभूत लेनदारों" को ऋण वसूली अधिकरण/वसूली अधिकारी के समक्ष विक्रय आगमों को बांटने के संबंध में पूर्विकता देती है । धारा 529-क के अनुसार केवल सीमित वर्ग के प्रतिभूत लेनदारों को अन्य सभी लेनदारों पर पूर्विकता प्राप्त है । यह भी अभिनिर्धारित किया गया था कि धारा 529(1) के परन्तुक के खंड (ग) के अधीन ऐसे प्रतिभूत लेनदार की पूर्विकता, जो परिसमापन के अंतर्गत नहीं आता है, धारा 529(3)(ग) में यथा-परिभाषित "कर्मकार के भाग" तक सीमित है । इस न्यायालय ने इस प्रतिपादना से सहमति व्यक्त की कि धारा 529(1) के परन्तुक के खंड (ग) के प्रथम भाग का पठन "या प्रतिभूति में कर्मकारों के भाग की रकम, इनमें से जो भी कम हो" शब्दों के साथ किया जाना चाहिए । अतः, प्रतिभूत लेनदार की पूर्विकता केवल इस सीमा तक है कि उक्त प्रतिभूति का कोई भाग समापक द्वारा धारा 529(1) के परन्तुक के खंड (क), खंड (ख) या खंड (ग) के अधीन की गई मांगों के परिणामस्वरूप कर्मकारों के पक्ष में लुप्त हो गया है ।

50. छठे मुद्दे के संबंध में **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि "कर्मकारों के शोध्यों" को धारा 529-क(1)(क) के कारण सभी अन्य प्रतिभूत और अप्रतिभूत लेनदारों पर पूर्विकता प्राप्त है और किसी भी प्रतिभूत या अप्रतिभूत लेनदार को, जिसमें बैंक या वित्तीय संस्थाएं भी हैं, कर्मकारों के शोध्यों का संदाय किए जाने से पूर्व भुगतान नहीं किया जा सकता है ।

51. **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त यह मत कि

कर्मकारों के शोध्यों को धारा 529-क(1)(क) के कारण सभी अन्य प्रतिभूत और अप्रतिभूत लेनदारों पर पूर्विकता प्राप्त है अब मान्य विधि नहीं रही है और प्रथमतः तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा **आन्ध्रा बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में और हाल ही में पुनः तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **जितेन्द्र नाथ सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में इसी प्रकार अभिनिर्धारित किया गया है ।

52. **आन्ध्र प्रदेश वित्तीय निगम** बनाम **शासकीय समापक**[1] वाला मामला एक ऐसा मामला था जहां निगम ने राज्य वित्तीय निगम अधिनियम, 1951 (जिसे संक्षेप में '1951 का अधिनियम' कहा गया है) की धारा 29 और धारा 46 के साथ पठित कंपनी अधिनियम की धारा 446(1) के अधीन उच्च न्यायालय के कंपनी न्यायाधीश के समक्ष समापन कार्यवाहियों से बाहर रहने की अनुज्ञा देने के लिए आवेदन किए थे । कंपनी न्यायाधीश ने सशर्त अनुज्ञा प्रदान की थी । उन शर्तों में से एक शर्त यह थी कि निगम कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अधीन कर्मकारों को देय दायित्व का निर्वहन करने का वचनबंध करेगा । इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि 1951 का अधिनियम औद्योगीकरण को बढ़ावा देने की दृष्टि से और यदि वित्तीय सहायता डूबंत हो जाती है तो उसकी वसूली के लिए भी औद्योगिक समुत्थानों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए एक विशेष अधिनियम है ; इसी प्रकार, कंपनी अधिनियम कंपनियों के संबंध में है, जिसमें ऐसी कंपनियों का परिसमापन करना भी है । धारा 529 की उपधारा (1) का परन्तुक और धारा 529-क पश्चात्वर्ती अधिनियमिति होने के कारण धारा 529-क का सर्वोपरि खंड 1951 के अधिनियम की धारा 29 पर अभिभावी होना चाहिए । इस न्यायालय ने आगे यह कहा कि 1951 के अधिनियम की धारा 29 के अधीन निगम द्वारा संपत्ति का विक्रय करने के कानूनी अधिकार का प्रयोग कंपनी अधिनियम की धारा 529 के परन्तुक द्वारा सृजित कर्मकारों के मात्रा के अनुसार प्रभार के अधिकारों के साथ किया जाना है । धारा 529 की उपधारा (1) के परन्तुक के अधीन समापक कर्मकार का प्रतिनिधित्व करने और उपरोक्त मात्रा के अनुसार प्रभार को प्रवृत्त करने का हकदार है और इसलिए कंपनी न्यायालय द्वारा अधिरोपित शर्तें न्यायोचित थीं । यदि कर्मकारों के अधिकारों को संरक्षित करने के लिए ऐसी शर्तें अधिरोपित की गई थीं तो इस संबंध में पूरी संभाव्यता थी कि प्रतिभूत लेनदार कर्मकारों के मात्रा के अनुसार अधिकार को विफल कर सकते थे ।

---

[1] (2000) 7 एस. सी. सी. 291.

53. **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष विचाराधीन प्रश्न यह था कि क्या 1951 के अधिनियम की धारा 29 के अधीन प्रतिभूति का विक्रय करने और उसकी वसूली करने संबंधी राज्य वित्तीय निगम के अधिकारों का प्रयोग तब कंपनी न्यायालय को कोई निर्देश किए बिना किया जा सकता था जब कंपनी के विरुद्ध परिसमापन आदेश कर दिया जाता है । इस न्यायालय ने 1951 के अधिनियम के उपबंधों और कंपनी अधिनियम की धारा 529 और 529-क और मुम्बई उच्च न्यायालय, आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायलय और गुजरात उच्च न्यायालय के भिन्न-भिन्न मतों पर ध्यान दिया । इस न्यायालय ने **महाराष्ट्र राज्य वित्तीय निगम** बनाम **बलारपुर इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड**[1] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अनुमोदन किया और यह अभिनिर्धारित किया कि जब कंपनी परिसमापनाधीन थी तब राज्य वित्तीय आयोग, जिस पर कंपनी की आस्तियां भारित थीं, कंपनी न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना प्रतिभूति की वसूली करने की कार्यवाही नहीं कर सकता है । यह कथन किया गया था कि धारा 529 में संशोधन किए जाने के परिणामस्वरूप प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति पर कर्मकारों के भाग की सीमा तक मात्रा के अनुसार प्रभार सृजित हो जाता है जब वह परिसमापन से बाहर रहकर प्रतिभूति की वसूली करने का विकल्प अपनाता है । न्यायालय ने 1951 के अधिनियम की धारा 29 और कंपनी अधिनियम के बीच कोई वास्तविक विरोधाभास नहीं पाया । **आन्ध्र प्रदेश राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अनुसरण करते हुए यह मत व्यक्त किया गया था कि भले ही यह धारणा की जाए कि उक्त उपबंधों में परस्पर विरोधाभास था तो भी 1951 के अधिनियम की धारा 29 कंपनी अधिनियम की धारा 529(1) और 529-क पर अध्यारोही नहीं हो सकती चूंकि वित्तीय निगम कर्मकारों के मात्रा के अनुसार प्रभार को अनदेखा करते हुए 1951 के अधिनियम की धारा 29 के अधीन अपने अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते हैं । इस न्यायालय ने रिपोर्ट के पैरा 32 (पृष्ठ 498) में अपनी राय के संबंध में निम्न प्रकार निष्कर्ष निकाला : –

> 1. राज्य वित्तीय निगम अधिनियम की धारा 29 के अधीन एकपक्षीय रूप से प्रयोक्तव्य अधिकार किसी कंपनी के देनदार के विरुद्ध केवल तभी उपलब्ध होता है जब तक परिसमापन का कोई

---

[1] ए. आई. आर. 1993 मुम्बई 392.

आदेश नहीं कर दिया जाता है ।

2. राज्य वित्तीय निगम, कर्मकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले शासकीय समापक की सहमति के बिना कर्मकारों के पक्ष में मात्रा के अनुसार प्रभार के लिए कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529 के परन्तुक के अधीन बंधकित संपत्तियों के आपन के लिए एकपक्षीय रूप से कार्यवाही नहीं कर सकते हैं ।

3. यदि शासकीय समापक सहमति नहीं देता है तो राज्य वित्तीय निगमों को उस शासकीय समापक को, जो कर्मकारों की ओर से मात्रा के अनुसार प्रभार-धारक है, समुचित निदेश देने के लिए कंपनी न्यायालय में समावेदन करना होगा । किसी भी स्थिति में, शासकीय समापक कंपनी न्यायालय से निदेश लिए बिना और उसके पर्यवेक्षण के बिना कार्यवाही नहीं कर सकता है ।

54. **आन्ध्रा बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने तीन प्रश्न विचारार्थ विरचित किए । जहां तक इस प्रश्न का संबंध है कि क्या **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय के पैरा 76 में अंतर्विष्ट विधि का कथन मान्य विधि था अथवा नहीं, इस न्यायालय ने इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक दिया । इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि क्या कर्मकारों को पिछले देयों संबंधी दावे के मुकाबले आन्ध्रा बैंक के दावे को ध्यान में रखते हुए तदर्थ आधार पर भुगतान करने का निदेश दिया जा सकता था, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जब मामला 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष लंबित नहीं था तो उसकी धारा 19(19) के निबंधनानुसार प्रतिभूत लेनदारों को स्वतः पूर्विकता प्राप्त नहीं होगी क्योंकि धारा 19(19) की भाषा "धारा 529-क के उपबंधों के अनुसार" शब्दों द्वारा विशेषित है । इस प्रकार प्रतिभूत लेनदारों के दावों पर अप्रतिभूत लेनदारों के मुकाबले पूर्विकता प्रदान करते हुए विचार किया जाना है किन्तु उनके दावे कर्मकारों की मात्रा के अनुसार होंगे । कंपनी अधिनियम की धारा 446 पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने रिपोर्ट के पैरा 31 (पृष्ठ 88) पर निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया : –

"31. कंपनी अधिनियम की धारा 446 में कंपनी न्यायाधीशों को निर्विवाद रूप से व्यापक शक्ति प्रदान की गई है किन्तु ऐसी शक्ति का प्रयोग किसी वाद या किसी कार्यवाही में या कंपनी द्वारा या

उसके विरुद्ध किए गए किसी दावे में पक्षकारों द्वारा दी गई उनकी परस्पर दलीलों पर विचार करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । पूर्विकताओं का निर्धारण करने का प्रश्न भी तभी विचारार्थ उद्भूत होगा यदि उसका दावे करने वाले पक्षकार न्यायालय के समक्ष आते हैं । कंपनी अधिनियम की धारा 446 न्यायालय पर स्वयमेव ही अंतर्वर्ती आदेशों पारित करने की शक्ति प्रदत्त नहीं करती । हमारी राय में, यह प्रश्न कि क्या न्यायालयों को ऐसे आदेश पारित करने की अंतर्निहित शक्ति है, इस कार्यवाही में विचारार्थ उद्भूत नहीं होता है.... ।"

55. **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाला मामला एक ऐसा मामला था जो कि तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ को निर्देशित किया गया था क्योंकि दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ का, जिसके समक्ष वह मामला विचारार्थ आया, यह मत था कि **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) और **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चयों के बीच विरोधाभास था । इस न्यायालय ने उच्च न्यायालयों के कुछ विनिश्चयों, **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) और **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चयों और 1951 के अधिनियम की धारा 29 और कंपनी अधिनियमन की धारा 529 और धारा 529-क के उपबंधों पर विचार किया और यह अभिनिर्धारित किया कि जब कंपनी की आस्तियों का विक्रय कर दिया जाता है और आगमों की वसूली कर ली जाती है तब कर्मकारों के देयों के रूप में ऋणों और प्रतिभूत लेनदारों के ऋण का भुगतान, यदि आस्तियां उनकी पूर्ति करने के लिए पर्याप्त हैं तो पूर्ण रूप से और यदि वे पर्याप्त नहीं हैं तो समान अनुपात में कर देना होगा । यह अभिव्यक्त रूप से उल्लेख किया गया था कि **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) और **इंटरनेशनल कोच बिल्डर्स** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चयों में कोई असंगति नहीं थी । विधिक स्थिति का सार रिपोर्ट के पैरा 18 (पृष्ठ 201) पर निम्न प्रकार दिया गया था :–

"18. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए हम विधिक स्थिति को संक्षेप में प्रस्तुत करना उचित समझते हैं जो कि निम्न प्रकार है –

(i) बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1983 के अधीन कार्य करने वाला ऋण वसूली अधिकरण ऋणी की संपत्तियों का, भले ही कोई कंपनी

परिसमापनाधीन हो, उसके वसूली अधिकारी के माध्यम से किन्तु शासकीय समापक या कंपनी न्यायालय द्वारा नियुक्त समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही विक्रय करने का आदेश करने और उसका विक्रय करने का हकदार होगा ।

(ii) राज्य वित्तीय निगम अधिनियम की धारा 31 के अधीन आवेदन को ग्रहण करने वाले जिला न्यायालय को, उधार लेने वाली परिसमापनाधीन-कंपनी की आस्तियों का, किन्तु शासकीय समापक या कंपनी न्यायालय द्वारा नियुक्त समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् विक्रय करने की शक्ति होगी ।

(iii) यदि राज्य वित्तीय निगम अधिनियम की धारा 29 के अधीन कार्य करने वाला कोई वित्तीय निगम किसी परिसमापनाधीन ऋणी कंपनी की आस्तियों का विक्रय करने या अन्यथा अंतरण करने की ईप्सा करता है तो उसके द्वारा उक्त शक्ति का प्रयोग कंपनी न्यायालय से समुचित अनुज्ञा अभिप्राप्त करने के पश्चात् ही और उस न्यायालय द्वारा शासकीय समापक को विक्रय से सहबद्ध करने, सरकारी बोली या आरक्षित कीमत नियत करने, विक्रय की पुष्टि करने, विक्रय आगमों को धारित करने और कंपनी अधिनियम की धारा 529-क और धारा 529 के निबंधनानुसार उनका लेनदारों के बीच वितरण करने के संबंध में जारी किए गए निदेशों के अनुसार कार्य करते हुए किया जाएगा ।

(iv) ऐसे किसी मामले में, जिसमें बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋण वसूली अधिनियम, 1993 या राज्य वित्तीय निगम अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां आरंभ कर दी गई हैं, संबंधित लेनदार को परिसमापनाधीन कंपनी की आस्तियों के वितरण के संबंध में कंपनी अधिनियम के सुसंगत उपबंधों से संगत उसकी प्रतिभूतियों की वसूली के संबंध में समुचित निदेशों के लिए कंपनी न्यायालय में समावेदन करना होगा ।"

56. जिस बात की अवेक्षा करना महत्वपूर्ण है वह यह है कि **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की

न्यायपीठ ने असंदिग्ध रूप से यह कहा है कि जब एक बार परिसमापन संबंधी कार्यवाही आरंभ हो गई है और समापक को परिसमाप्त की जानी वाली कंपनी की आस्तियों का प्रभार सौंप दिया गया है तो 1993 के अधिनियम के अधीन आने वाले बैंकों और वित्तीय संस्थाओं या 1951 के अधिनियम के अधीन आने वाले वित्तीय निगमों के आग्रह पर धारित आस्तियों के विक्रय आगमों का वितरण केवल शासकीय समापक की सहबद्धता से और कंपनी न्यायालय के पर्यवेक्षणाधीन होगा । यह भी कहा गया है कि चाहे आस्तियों की वसूली किसी प्रतिभूत लेनदार द्वारा की जाती है भले ही वह कार्यवाही 1993 के अधिनियम के अधीन हो या 1951 के अधिनियम के अधीन, किन्तु आस्तियों का वितरण कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के निबंधनों के अनुसार और समापक के इस अधिकार को मानते हुए किया जाएगा कि कर्मकारों के देयों की गणना की जाए और उन्हें प्रतिभूत लेनदारों के साथ मात्रा के अनुसार उनके बीच वितरण के लिए संगृहीत किया जाए । यह अवेक्षा करते हुए कि कंपनी अधिनियम की धारा 529 के साथ पठित धारा 529-क के ऐसे मामलों को लागू होने के प्रश्न के संबंध में कोई विरोधाभास नहीं है जहां ऋणी एक कंपनी है और वह परिसमापनाधीन है, यह मत व्यक्त किया गया था कि यदि कोई विरोधाभास है तो वह इस दृष्टि से है कि ऋण वसूली अधिकरण कंपनी की संपत्तियों का विक्रय 1993 के अधिनियम के निबंधनानुसार कर सकेगा और उस सीमा तक 1993 का अधिनियम कंपनी अधिनियम पर, जो कि साधारण विधि है, अभिभावी होगा ।

57. **आई.सी.आई.सी.आई. बैंक लिमिटेड** बनाम **सिडको लैदर्स लिमिटेड और अन्य**[1] वाले मामले में कंपनी अधिनियम की धारा 529 और 529-क पर किन्तु एक पृथक् तथ्यात्मक स्थिति में विचार किया गया । इस न्यायालय ने कंपनी अधिनियम की धारा 529 और धारा 529-क के संबंध में यह प्रतिपादित किया कि धारा 529-क कर्मकारों के देयों को मात्रा के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों के साथ जोड़ने की दृष्टि से कंपनी अधिनियम में लाई गई थी किन्तु कंपनी अधिनियम की धारा 529-क में प्रतिभूत लेनदारों के बीच पूर्विकता के पहलू पर स्पष्टतः कोई उपबंध अंतर्विष्ट नहीं है । इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित करते हुए यह कथन भी किया कि जहां तक 1993 के अधिनियम के लिए वसूली गई रकमों का संबंध है,

---

[1] (2006) 10 एस. सी. सी. 452.

पूर्विकताएं केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा ही तैयार की जानी है ।

58. **सैंट्रल बैंक ऑफ इंडिया** बनाम **केरल राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ का संबंध इस प्रश्न से था कि क्या मुम्बई विक्रय-कर अधिनियम, 1959 (जिसे संक्षेप में "मुम्बई अधिनियम" कहा गया है) की धारा 38-ग और केरल साधारण विक्रय-कर अधिनियम, 1963 (जिसे संक्षेप में "केरल अधिनियम" कहा गया है) की धारा 26-ख और अन्य राज्य विधानों में अंतर्विष्ट समरूप उपबंध जिनके द्वारा व्यवहारी या ऐसे अन्य व्यक्ति की संपत्ति पर, जो विक्रय कर इत्यादि का संदाय करने के लिए दायी है, प्रथम प्रभार सृजित किया गया है, ऋण की वसूली के लिए 1993 के अधिनियम और प्रतिभूति के प्रवर्तन के लिए वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 (जिसे संक्षेप में "प्रतिभूतिकरण अधिनियम" कहा गया है) में अंतर्विष्ट उपबंधों से असंगत हैं और क्या 1993 के अधिनियम की धारा 34(1) और प्रतिभूतिकरण अधिनियम की धारा 35 में अंतर्विष्ट सर्वोपरि खंड के आधार पर दोनों केन्द्रीय विधानों को राज्य विधानों पर प्रमुखता प्राप्त होगी । 1993 के अधिनियम की स्कीम पर प्रकाश डाला गया था और यह कहा गया था कि उक्त अधिनियम द्वारा विशेषज्ञीय पीठ, अर्थात् बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को शोध्य ऋणों की वसूली से संबंधित विवादों का शीघ्र न्यायनिर्णयन करने के लिए ऋण वसूली अधिकरणों और ऋण वसूली अपील अधिकरणों का सृजन करना सुकर बनाया गया है । यह उल्लेख किया गया था कि न तो 1993 के अधिनियम में और न ही प्रतिभूतिकरण अधिनियम में ऐसा कोई उपबंध है जिसके द्वारा उधार लेने वाले की संपत्ति पर बैंकों, वित्तीय संस्थाओं या प्रतिभूत लेनदारों के पक्ष में प्रथम प्रभार सृजित किया गया है । प्रतिभूतिकरण अधिनियम की धारा 13(9) के संबंध में इस न्यायालय ने यह कहा कि विधानमंडल ने यह सुनिश्चित किया है कि प्रतिभूत लेनदारों, जैसे बैंकों के मुकाबले कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अधीन परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकारों के दावे को दी गई पूर्विकता का सम्यक् आदर किया जाना चाहिए; ये उपबंध विधानमंडल द्वारा तैयार की गई वितरण प्रक्रिया के भाग मात्र हैं और इनका आशय ऐसी परिसमापनाधीन कंपनी के, जिसकी आस्तियां प्रतिभूतिकरण अधिनियम के उपबंधों के अध्यधीन हैं और जिनका व्ययन प्रतिभूत लेनदार द्वारा उसकी

---

[1] (2009) 4 एस. सी. सी. 94.

धारा 13 के अनुसार किया जाता है, कर्मकारों के अधिकार को संरक्षित और परिरक्षित करना है ।

59. इसके बाद, इस न्यायालय ने **सैंट्रल बैंक ऑफ इंडिया** (उपर्युक्त) वाले मामले में रिपोर्ट के पैरा 128, 129, 130 और 131 (पृष्ठ 141-142) पर विधिक स्थिति का वर्णन निम्न प्रकार किया : –

> "128. यदि ऋण वसूली अधिकरण अधिनियम और प्रतिभूतिकरण अधिनियम के उपबंधों का निर्वचन उस पृष्ठभूमि और संदर्भ में, जिसमें इन विधानों को अधिनियमित किया गया था और उनके अधिनियमन द्वारा ईप्सित प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों विधानों का आशय बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और प्रतिभूत लेनदारों के शोध्यों की तुरंत वसूली और बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और अन्य प्रतिभूत लेनदारों द्वारा अंगीकृत प्रक्रिया से व्यथित किसी व्यक्ति द्वारा की गई किसी शिकायत के न्यायनिर्णयन के लिए एक नई व्यवस्था का सृजन करना है किन्तु उसमें अंतर्विष्ट उपबंधों का पठन इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि उससे बैंकों इत्यादि के पक्ष में प्रथम प्रभार सृजित होता है ।
>
> 129. यदि संसद् का आशय राज्य विधानों के अधीन सृजित प्रथम प्रभार की तुलना में बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और अन्य प्रतिभूत लेनदारों को पूर्विकता देना था तो कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 14-क, कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम की धारा 11(2), संपदा शुल्क अधिनियम, 1953 की धारा 74(1), खान और खनिज (विनियमन और विकास) अधिनियम, 1957 की धारा 25(2), दान कर अधिनियम की धारा 30 और कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 529-क में अंतर्विष्ट उपबंधों के समरूप उपबंधों को ऋण वसूली अधिकरण अधिनियम और प्रतिभूतिकरण अधिनियम में सम्मिलित किया गया होता ।
>
> 130. निर्विवाद रूप से इन दोनों अधिनियमितियों में कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, इत्यादि के समरूप उपबंध अंतर्विष्ट नहीं हैं । इस आशय के किसी विनिर्दिष्ट उपबंध के अभाव में एक ओर ऋण वसूली अधिकरण अधिनियम और प्रतिभूतिकरण अधिनियम और दूसरी ओर मुम्बई अधिनियम की धारा 38-ग और केरल अधिनियम की धारा 26-ख के उपबंधों के बीच कोई विरोधाभास, असंगति या अतिव्याप्ति

समझना संभव नहीं है और ऋण वसूली अधिकरण अधिनियम की धारा 34(1) और प्रतिभूतिकरण अधिनियम की धारा 35 में अंतर्विष्ट सर्वोपरि खंडों का यह घोषणा करने के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता है कि राज्य विधान द्वारा सृजित प्रथम प्रभार बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और अन्य प्रतिभूत लेनदारों के मुकाबले प्रवृत्त नहीं होगा और उनके द्वारा यथास्थिति, उनके शोध्यों की वसूली या प्रतिभूति हित के प्रवर्तन के लिए आरंभ की गई कार्यवाहियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

131. न्यायालय ऋण वसूली अधिकरण अधिनियम की धारा 34(1) और प्रतिभूतिकरण अधिनियम की धारा 35 में अंतर्विष्ट सर्वोपरि खंडों को मुम्बई अधिनियम की धारा 38-ग और केरल अधिनियम की धारा 26-ख और अन्य समरूप राज्य विधानों के मुकाबले केवल तभी प्रभावी कर सकता था यदि इन दोनों अधिनियमितियों में बैंकों, वित्तीय संस्थाओं और अन्य प्रतिभूत लेनदारों के पक्ष में प्रथम प्रभार सृजित करने वाला कोई विनिर्दिष्ट उपबंध होता किन्तु चूंकि संसद् ने इन दोनों अधिनियमितियों में से किसी भी अधिनियमिति में ऐसा कोई उपबंध नहीं किया है इसलिए राज्य विधानों द्वारा व्यवहारी या ऐसे किसी अन्य व्यक्ति की संपत्ति पर, जो विक्रय कर इत्यादि का संदाय करने के लिए दायी है, सृजित प्रथम प्रभार, इस तथ्य के होते हुए भी कि बैंक इत्यादि प्रतिभूत लेनदारों के प्रवर्ग में आते हैं, विवक्षा या अनुमान द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता है ।"

60. **जितेन्द्र नाथ सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में कंपनी अधिनियम की धारा 529 और धारा 529-क पुनः विचारार्थ उद्भूत हुई । इस मामले की सुनवाई करने वाले न्यायाधीशों के बीच मतभेद था । बहुमत द्वारा कंपनी अधिनियम की धारा 529 और धारा 529-क का निम्न प्रकार निर्वचन किया गया था :–

"16.1 किसी प्रतिभूत लेनदार का कंपनी की विशिष्ट संपत्ति या आस्ति पर केवल एक प्रभार होता है । प्रतिभूत लेनदार के पास या तो अपनी प्रतिभूति को वसूल करने या अपनी प्रतिभूति का त्याग करने का विकल्प होता है । यदि प्रतिभूत लेनदार अपनी प्रतिभूति का त्याग करता है तो किसी अन्य अप्रतिभूत लेनदार की तरह वह उसे शोध्य ऋण को साबित करने और परिसमापन की कार्यवाहियों में कंपनी की

आस्तियों में से लाभांश प्राप्त करने का हकदार होता है । यदि प्रतिभूत लेनदार अपनी प्रतिभूति को वसूल करने का विकल्प अपनाता है तो वह परिसमापन की कार्यवाही से भिन्न किसी कार्यवाही में अपनी प्रतिभूति को वसूल करने का हकदार होता है किन्तु उसे समापक को प्रतिभूति की वसूली होने तक प्रतिभूति के परिरक्षण की लागत का भुगतान करना होगा ।

16.2 प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति पर कंपनी अधिनियम की धारा 529 की उपधारा (1) के खंड (ग) के परन्तुक के पहले भाग में कर्मकारों के पक्ष में कंपनी से उनके देयों की बाबत एक कानूनी प्रभार सृजित किया गया है और यह प्रभार प्रतिभूत लेनदार के प्रभार की मात्रा के अनुसार और कंपनी अधिनियम की धारा 529 की उपधारा (3) के खंड (ग) में यथा-कथित कंपनी के किसी प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के संबंध में कर्मकारों के भाग की मात्रा तक होता है ।

16.3 जहां कोई प्रतिभूत लेनदार प्रतिभूति की वसूली करने का विकल्प अपनाता है तब ऐसे प्रतिभूत लेनदार को देय उतना ऋण जितना कर्मकारों के पक्ष में सृजित कानूनी प्रभार के कारण उसके द्वारा वसूल नहीं किया जा सका, कंपनी अधिनियम की धारा 529 की उपधारा (1) के परन्तुक के खंड (ग) में उपदर्शित मात्रा तक कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के प्रयोजनों के लिए कर्मकारों के देयों की मात्रा के अनुसार होगा ।

16.4 कर्मकारों के देय और जहां प्रतिभूत लेनदार अपनी प्रतिभूति की वसूली करने का विकल्प अपनाता है वहां प्रतिभूत लेनदार के उस मात्रा तक ऋणों का संदाय जितने कंपनी अधिनियम की धारा 529 की उपधारा (1) के परन्तुक के खंड (ग) के अधीन कर्मकारों के देयों की मात्रा के बराबर हैं, कंपनी के अन्य सभी देयों से पहले किया जाएगा ।"

61. जबकि **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले निर्णय के पैरा 76 में विधि की इस प्रतिपादना के संबंध में कि कर्मकारों के देयों को धारा 529-क(1)(क) के कारण अन्य सभी प्रतिभूत और अप्रतिभूत लेनदारों पर पूर्विकता प्राप्त है, कतिपय पहलुओं के संबंध में मतभेद था इसलिए न्यायपीठ की यह एकमत राय थी कि **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले

मामले में किया गया उक्त कथन उचित विधि नहीं था ।

62. धारा 529-क कंपनी (संशोधन) अधिनियम, 1985 द्वारा अंतःस्थापित की गई थी । इस उपबंध के अंतःस्थापन के कारण कर्मकारों के देय प्रतिभूत लेनदारों की मात्रा के अनुसार बराबर हो गए थे । दूसरे शब्दों में, परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं । प्रासंगिक रूप से, कंपनी (संशोधन) अधिनियम, 1985 द्वारा कंपनी अधिनियम में धारा 529-क अंतःस्थापित करते समय धारा 529 की उपधारा (1) में परन्तुक भी अंतःस्थापित किया गया था जिसमें यह उपबंध है कि प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के बारे में यह समझा जाएगा कि वह उसमें कर्मकार के भाग की मात्रा तक कर्मकार के पक्ष में मात्रा के अनुसार प्रभार के अधीन है ।

63. धारा 529-क और धारा 529(1)(ग) के परन्तुक को एक साथ पढ़ने पर यह अप्रतिरोध्य निष्कर्ष निकलता है कि जहां कोई कंपनी परिसमापनाधीन हो वहां प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार के ऊपर कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत एक कानूनी प्रभार सृजित होता है और यह प्रभार मात्रा के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों के प्रभार के समान होता है । ऐसा कानूनी प्रभार कंपनी के प्रतिभूत लेनदार द्वारा धारित प्रतिभूति के संबंध में कर्मकार के भाग की मात्रा तक है । हमारी राय में, यह स्थिति वहां भी लागू होती है जहां कंपनी की आस्तियों का विक्रय बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध प्राप्त किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में तब किया गया है जब वह समापनाधीन नहीं है किन्तु इससे पूर्व कि ऐसे विक्रय से वसूल किए गए आगमों का पूर्णतः और अंतिम रूप से वितरण किया जाता, कंपनी समापनाधीन हो गई थी । दूसरे शब्दों में, ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय से वसूल किए गए आगमों का अंतिम वितरण लंबित रहते हुए यदि ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन कंपनी हो जाती है तो धारा 529-क और 529(1)(ग) का परन्तुक तुरंत प्रवृत्त हो जाता है और ऐसे आगमों पर कर्मकारों के देयों की बाबत उनके पक्ष में कानूनी प्रभार सृजित हो जाता है ।

64. विधि की स्कीम को ध्यान में रखते हुए हमें यह प्रतीत होता है कि वह अनुपात निकालने के लिए जिस पर विक्रय आगमों का कंपनी के कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण किया जाना है, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख है न कि विक्रय की तारीख ।

65. जहां प्रतिभूति का विक्रय 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया जाता है वहां असंवितरित आगमों का वितरण केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अनुसार किया जाना होता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में यह उपबंधित है कि ऋण वसूली अधिकरण वहां विक्रय आगमों का धारा 529-क के अनुसार प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरण करने का आदेश कर सकता है जहां कंपनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत कंपनी के विरुद्ध वसूली प्रमाणपत्र जारी कर दिया जाता है । परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार उसके परिसमापन आदेश की तारीख से ही (या जहां अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है वहां ऐसी नियुक्ति की तारीख से) प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं और वे उस अनुपात में विक्रय आगमों के वितरण के हकदार हो जाते हैं जैसा कि कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में स्पष्ट किया गया है । प्रश्न यह है कि क्या 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावों का निर्धारण करने की अधिकारिता प्रदान करती है ? हम अनेक कारणों से ऐसा नहीं समझते हैं ।

66. प्रथमतः, 1993 के अधिनियम में विनिर्दिष्ट मामलों में बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के शोध्यों की द्रुत वसूली के लिए विशेष मशीनरी का उपबंध किया गया है । इसी उद्देश्य से इसमें ऋण वसूली अधिकरण की स्थापना करने का उपबंध किया गया है जिसे बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के दावों का न्यायनिर्णयन करने की अधिकारिता, शक्ति और प्राधिकार दिया गया है । 1993 के अधिनियम में ऋण वसूली अधिकरणों द्वारा इस प्रकार न्यायनिर्णीत रकम की वसूली की पद्धतियों के संबंध में भी उपबंध किया गया है । 1993 के अधिनियम के अंतर्गत बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से भिन्न व्यक्तियों के दावों का न्यायनिर्णयन करने का क्षेत्राधिकार नहीं आता है । ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन करने की शक्तियां नहीं दी गई हैं । 1993 के अधिनियम की धारा 17 या धारा 19 का पठन उस रीति में नहीं किया जा सकता है जिसमें ऐसी कार्यवाही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा की जानी अनुज्ञात हो । ऋण वसूली अधिकरण के पास ऐसे सभी विवादों पर विचार करने की कानूनी शक्तियां नहीं हैं जो परिसमापन कार्यवाहियों में कर्मकारों के दावों का न्यायनिर्णयन करते समय उद्भूत हो सकते हैं । ऋणी कंपनी के विरुद्ध

कर्मकारों के दावे का न्यायनिर्णयन एक सारवान् विषय है और ऋण वसूली अधिकरण के पास न तो उसके संबंध में सक्षमता है और न ही मशीनरी । ऋण वसूली अधिकरण को दी गई कतिपय आनुषंगिक और समनुषंगी शक्तियों के अंतर्गत ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन या विनिश्चय करने की शक्ति नहीं आती है ।

67. द्वितीयतः, 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) वितरण प्रक्रिया का एक उपबंध है न कि कोई स्वतंत्र न्यायनिर्णायक उपबंध है । यह उपबंध किसी बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा किए गए दावे का न्यायनिर्णयन करने के संबंध में है । यह वहां लागू होता है जहां कंपनी अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत किसी ऐसी कंपनी के विरुद्ध वसूली प्रमाणपत्र जारी किया जाता है जो कि परिसमापनाधीन है । जहां ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है वहां धारा 19(19) बिल्कुल भी प्रवृत्त नहीं होती । तिवारी समिति रिपोर्ट और नरसिंह्मा समिति रिपोर्ट का अनुसरण करते हुए 1993 के अधिनियम में प्रस्तुत धारा 19(19) ऐसी कंपनी के विक्रय आगमों के वितरण के समय प्रतिभूत लेनदारों के, जिनमें कर्मकारों के देय भी शामिल हैं । मात्रा के अनुसार प्रभार को संरक्षित करने के लिए सम्मिलित की गई थी । धारा 19(19) के अधीन प्रतिभूत लेनदारों के साथ कर्मकारों की भागीदारी सीमित मात्रा तक ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय आगमों के वितरण में है न कि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध उनके दावों के निर्धारण के लिए है । जैसे ही कंपनी परिसमापनाधीन हो जाती है, कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने और कर्मकारों के भाग को परिमाणित करने के लिए एकमात्र सक्षम प्राधिकारी समापक होता है । जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन होती है वहां कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने का उत्तरदायित्व और सक्षमता समापक की होती है ।

68. तृतीयतः, धारा 19(19) में आने वाली अभिव्यक्ति "अधिकरण ऐसी कंपनी के विक्रय आगमों को कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के उपबंधों के अनुसार उसके प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित करने का आदेश कर सकेगा" ऋण वसूली अधिकरण को स्वयं धारा 529-क के अधीन कर्मकारों के दावे की परीक्षा, उसका निर्धारण और विनिश्चय करने की शक्ति प्रदान नहीं करती । उपर्युक्त अभिव्यक्ति का अभिप्राय यह है कि जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन हो वहां 1993 के अधीन वसूल किए गए ऐसी कंपनी के विक्रय आगम कंपनी अधिनियम की धारा 529-क का

अनुसरण करते हुए उसके प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित किए जाने होते हैं । धारा 19(19) में धारा 529-क का उल्लेख न तो निर्देश द्वारा विधान है और न ही निगमन द्वारा विधान है । इसमें यह अपेक्षित है कि ऋण वसूली अधिकरण को परिसमापनाधीन ऋणी कंपनी के प्रतिभूत लेनदारों और कर्मकारों को समान अनुपात में वितरण करके धारा 529-क की आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए ।

69. हम कामगार यूनियन की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल की इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि धारा 19(19) ऐसी स्थिति तक निर्बंधित नहीं है जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन है । हमारी राय में, धारा 19(19) के अंतर्गत वह स्थिति आती है जहां कोई ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन है या ऋणी कंपनी की बाबत एक अंतरिम समापक नियुक्त कर दिया गया है न कि कोई अन्य स्थिति आती है । यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो विक्रय आगमों का प्रतिभूत लेनदारों के बीच 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में वितरण करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है ।

70. **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले मामले में कथित इस स्थिति में कोई असंदिग्धता नहीं है और वह विधिक रूप से उचित हैं कि पूर्विकताएं, जहां तक उनका संबंध 1993 के अधिनियम के अधीन वसूल की गई रकमों से है, केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा तैयार की जानी है, किन्तु इस कथन का पठन इस प्रकार नहीं किया जा सकता है कि उसमें यह प्रतिपादना अधिकथित की गई है कि 1993 के अधिनियम के अधीन वसूल की गई रकमों की बाबत ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के कर्मकारों के देयों का अवधारण करने की शक्ति, सक्षमता या प्राधिकार है । 1993 के अधिनियम के अधीन वसूल किए गए धन को प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित करने की रीति में ऋण वसूली अधिकरण को धारा 19(19) के अधीन कंपनी के विरुद्ध बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से भिन्न प्रतिभूत लेनदारों के दावों का न्यायनिर्णयन करने का अधिकार नहीं दिया गया है । विधि के किसी ऐसे कथन को जो, **इलाहाबाद बैंक** (उपर्युक्त) वाले निर्णय के प्रतिकूल है, उचित विधि अभिनिर्धारित नहीं किया जाना चाहिए ।

71. **राजस्थान राज्य वित्तीय निगम** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह प्रतिपादना प्रस्तुत की थी कि 1993 के अधिनियम के

अधीन कार्य करने वाला ऋण वसूली अधिकरण ऋणी की संपत्तियों का, भले ही वह कंपनी समापनाधीन क्यों न हो, वसूली अधिकारी के माध्यम से विक्रय का आदेश करने का हकदार होगा किन्तु शासकीय समापक या कंपनी न्यायालय द्वारा नियुक्त समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही ऐसा किया जा सकता है । हम उपर्युक्त मत से सहमत हैं । जहां ऋणी कंपनी के विरुद्ध परिसमापन अर्जी लंबित है किन्तु परिसमापन का कोई आदेश पारित नहीं किया गया है और न ही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय का आदेश करने के समय ऐसी कंपनी की बाबत कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और ऋणी कंपनी की संपत्तियों का विक्रय वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया गया है और विक्रय के आगम प्राप्त कर लिए गए हैं और विक्रय आगमों का संपूर्ण संवितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को कर दिया गया है, वहां ऋणी कंपनी का बाद में समापनाधीन होना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा संवितरण को फिर से खोलने का कोई आधार नहीं है । तथापि, यदि ऋणी कंपनी विक्रय आगमों के पूर्ण और अंतिम संवितरण से पूर्व समापनाधीन हो गई है और समापक नियुक्त कर दिया गया है तो ऋण वसूली अधिकरण द्वारा असंवितरित आगमों का संवितरण समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । उस स्थिति में, यदि कर्मकारों के देयों का दावा किया जाता है तो ऋण वसूली अधिकरण के पास दो विकल्प उपलब्ध होते हैं । एक विकल्प यह है कि उस बैंक या वित्तीय संस्था को, जिसने ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी से ऋण की वसूली के लिए आवेदन किया है, कर्मकारों के उतने देयों की सीमा तक जितने ऋणी कंपनी के समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं और कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में उपवर्णित अनुपात में कर्मकारों को संदेय हैं, प्रत्यास्थापन क्षतिपूर्ति बंधपत्र प्राप्त करने के पश्चात् वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार देय ऋण मद्धे संवितरित रकम का संदाय किया जा सकता है । दूसरा विकल्प यह है कि ऋण वसूली अधिकरण असंवितरित रकम के एक भाग को अंतरिम रूप से धारा 529(3)(ग) का अनुसरण करते हुए दृष्टांत के अनुसार अनुपात में कर्मकारों के देयों मद्धे पृथक् रख सकता है और अतिशेष रकम का संवितरण आवेदक बैंक या वित्तीय संस्था को ऐसे बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए कर सकता है कि वह कर्मकारों के देयों की, जो कि समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित

किए जाएं, उतनी सीमा तक रकम, जो उक्त दृष्टांत के अनुसार कर्मकारों को संवितरित की जा सकने वाली रकम से कम होती है, वापस करेगा । इस प्रकार पृथक् रखी गई रकम समापक को तदर्थ आधार पर समापक द्वारा कर्मकारों के देयों के अंतिम अवधारण पर समायोजन के अधीन रहते हुए कर्मकारों के देयों मद्धे संवितरित की जा सकती है । ऋण वसूली अधिकरण द्वारा प्रथम विकल्प का प्रयोग केवल ऐसी स्थिति में किया जाना चाहिए जहां समापक या कर्मकारों द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों मद्धे वितरण के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है ।

72. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, हम अपने निष्कर्षों का सार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :–

(i) यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है और न ही कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो विक्रय आगमों का प्रतिभूत लेनदारों के बीच 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में वितरण करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है ।

(ii) जहां कोई कंपनी समापनाधीन है, वहां कर्मकारों के पक्ष में उनके देयों की बाबत प्रत्येक प्रतिभूत लेनदार की प्रतिभूति के ऊपर प्रभार सृजित हो जाता है और यह प्रभार मात्रा के अनुसार प्रतिभूत लेनदार के समान है । ऐसा कानूनी प्रभार ऋणी कंपनी के प्रतिभूत लेनदार द्वारा धारित प्रतिभूति के संबंध में कर्मकारों के भाग की मात्रा तक है ।

(iii) उपर्युक्त स्थिति वहां भी लागू होती है जहां ऋणी कंपनी की आस्तियों का बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा ऋणी कंपनी के विरुद्ध अभिप्राप्त वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में तब विक्रय किया गया है जब वह समापनाधीन नहीं थी किन्तु इससे पूर्व कि ऐसे विक्रय से प्राप्त आगमों का पूर्णतः और अंतिमतः संवितरण किया जा सकता, कंपनी समापनाधीन हो गई थी । दूसरे शब्दों में, यदि ऋणी कंपनी ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में प्रतिभूति के विक्रय से प्राप्त आगमों के अंतिम संवितरण होने तक समापनाधीन कंपनी बन जाती है तो धारा 529(1)(ग) के परन्तुक के साथ पठित धारा 529-क प्रवृत्त हो जाती है और कर्मकारों

के पक्ष में उनके देयों की बाबत ऐसे आगमों पर प्रभार सृजित हो जाता है ।

(iv) वह अनुपात निकालने के लिए, जिस पर विक्रय आगम ऋणी कंपनी के कर्मकारों और प्रतिभूत लेनदारों के बीच वितरित किए जाने हैं, सुसंगत तारीख परिसमापन आदेश की तारीख न कि विक्रय की तारीख है ।

(v) निष्कर्ष (ii) से (iv) वहां यथावश्यक परिवर्तन सहित लागू होंगे जहां ऋणी कंपनी की बाबत अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है ।

(vi) जहां ऋणी कंपनी के विरुद्ध परिसमापन अर्जी लंबित है किन्तु परिसमापन संबंधी कोई आदेश पारित नहीं किया गया है और न ही ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विक्रय का आदेश करने के समय ऐसी कंपनी की बाबत कोई अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है और ऋणी कंपनी की संपत्तियों का विक्रय वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में कर दिया गया है और विक्रय आगम प्राप्त कर लिए गए हैं और विक्रय आगमों का पूर्ण संवितरण संबंधित बैंक या वित्तीय संस्था को कर दिया गया है वहां ऋणी कंपनी के समापनाधीन हो जाने की पश्चात्वर्ती घटना ऋण वसूली अधिकरण द्वारा संवितरण को फिर से खोलने के लिए आधार नहीं है ।

(vii) तथापि, यदि ऋणी कंपनी विक्रय आगमों के पूर्ण और अंतिम संवितरण से पूर्व समापनाधीन हो गई है और समापक की नियुक्ति कर दी गई है तो ऋण वसूली अधिकरण द्वारा असंवितरित आगमों का संवितरण समापक को सूचना देने के पश्चात् और उसकी सुनवाई करने के पश्चात् ही किया जा सकता है । उस स्थिति में, यदि कर्मकारों के देयों के संबंध में दावा किया जाता है तो ऋण वसूली अधिकरण के पास दो विकल्प उपलब्ध होते हैं । एक विकल्प यह है कि उस बैंक या वित्तीय संस्था को, जिसने ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी से ऋण की वसूली के लिए आवेदन किया है, कर्मकारों के उतने देयों की सीमा तक जितने ऋणी कंपनी के समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं और कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में उपवर्णित अनुपात में कर्मकारों को संदेय हैं, प्रत्यास्थापन क्षतिपूर्ति बंधपत्र प्राप्त

करने के पश्चात् वसूली प्रमाणपत्र के अनुसार देय ऋण मद्धे संवितरित रकम का संदाय किया जा सकता है । दूसरा विकल्प यह है कि ऋण वसूली अधिकरण असंवितरित रकम के एक भाग को अंतरिम रूप से धारा 529(3)(ग) का अनुसरण करते हुए दृष्टांत के अनुसार अनुपात में कर्मकारों के देयों मद्धे पृथक् रख सकता है और अतिशेष रकम का संवितरण आवेदक बैंक या वित्तीय संस्था को ऐसे बैंक या वित्तीय संस्था द्वारा यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए कर सकता है कि वह कर्मकारों के देयों की, जो कि समापक द्वारा अंतिम रूप से अवधारित किए जाएं, उतनी सीमा तक रकम, जो उक्त दृष्टांत के अनुसार कर्मकारों को संवितरित की जा सकने वाली रकम से कम होती है, वापस करेगा । इस प्रकार पृथक् रखी गई रकम समापक को तदर्थ आधार पर समापक द्वारा कर्मकारों के देयों के अंतिम अवधारण पर समायोजन के अधीन रहते हुए कर्मकारों के देयों मद्धे संवितरित की जा सकती है ।

(viii) ऋण वसूली अधिकरण द्वारा प्रथम विकल्प का प्रयोग केवल ऐसी स्थिति में किया जाना चाहिए जहां समापक या कर्मकारों द्वारा ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों मद्धे वितरण के लिए कोई आवेदन नहीं किया गया है ।

(ix) जहां प्रतिभूति का विक्रय 1993 के अधिनियम के अधीन ऋण वसूली अधिकरण द्वारा जारी किए गए वसूली प्रमाणपत्र के निष्पादन में किया गया है वहां विक्रय आगमों का वितरण कंपनी अधिनियम की धारा 529-क के अनुसार केवल ऋण वसूली अधिकरण द्वारा न कि किसी अन्य पीठ या प्राधिकारी द्वारा करना होता है ।

(x) परिसमापनाधीन कंपनी के कर्मकार समापन आदेश की तारीख से (या जहां अंतरिम समापक नियुक्त किया गया है वहां ऐसी नियुक्ति की तारीख से) प्रतिभूत लेनदारों की हैसियत अर्जित कर लेते हैं और वे कंपनी अधिनियम की धारा 529(3)(ग) से संलग्न दृष्टांत में यथास्पष्टीकृत अनुपात में विक्रय आगमों के वितरण के हकदार हो जाते हैं ।

(xi) 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) ऋण वसूली अधिकरण को ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के दावे का निर्धारण

करने की अधिकारिता प्रदान नहीं करती । समापनाधीन ऋणी कंपनी के विरुद्ध कर्मकारों के देयों का न्यायनिर्णयन समापक द्वारा किया जाना है । दूसरे शब्दों में, जैसे ही कंपनी समापनाधीन होती है तो कर्मकारों के देयों का निर्धारण करने के लिए सक्षम प्राधिकारी समापक है जिसे स्पष्ट रूप से कंपनी न्यायालय के न कि किसी अन्य प्राधिकरी के पर्यवेक्षणाधीन कार्य करना होता है ।

(xii) धारा 19(19) केवल वहां लागू होती है जहां ऋणी कंपनी परिसमापनाधीन है या ऐसी कंपनी की बाबत अंतरिम समापन नियुक्त कर दिया गया है । यदि ऋणी कंपनी समापनाधीन नहीं है या यदि ऐसी कंपनी की बाबत अंतरिम समापक की नियुक्ति का कोई आदेश नहीं किया गया है और मात्र परिसमापन कार्यवाहियां लंबित हैं तो प्रतिभूत लेनदारों के बीच विक्रय आगमों का वितरण 1993 के अधिनियम की धारा 19(19) में विहित रीति में करने का कोई प्रश्न उद्भूत नहीं होता है ।

73. हम उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर यह अभिनिर्धारित करते हैं, जैसा अभिनिर्धारित किया भी जाना चाहिए कि उन कर्मकारों के दावों पर जो मात्रा के अनुसार संदाय किए जाने के लिए हकदार होने के दावा करते हैं, ऋणी कंपनी के समापक द्वारा न कि ऋण वसूली अधिकरण द्वारा विचार किया जाना चाहिए और उनका न्यायनिर्णयन किया जाना चाहिए । हम इस प्रश्न का उत्तर तदनुसार देते हैं ।

74. आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है । ऋण वसूली अधिकरण, मुम्बई-III और कंपनी का शासकीय समापक अब कर्मकारों के देयों के संबंध में आगे इस प्रकार कार्यवाही करेंगे जैसा कि इस निर्णय में उपदर्शित है । अपीलें मंजूर की जाती हैं और खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है । सभी लंबित आवेदनों का निपटारा किया जाता है ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

ग्रो.

श्याम नारायण

बनाम

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली

15 मई, 2013

न्यायमूर्ति (डा.) बी. एस. चौहान और न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 376 – बलात्संग – आहत कन्या की आयु 8 वर्ष – आहत के गुप्तांगों से रक्तस्त्राव – अभियुक्त द्वारा आहत को अस्पताल ले जाया जाना – आहत के घर पर अभियुक्त की मौजूदगी का स्पष्टीकरण न दिया जाना तथा आहत के साक्ष्य से चिकित्सीय साक्ष्य की संपुष्टि होना – चूंकि अभियुक्त ने यह कारण स्पष्ट नहीं किया है कि वह बालिका के घर क्यों गया था और चिकित्सकों के परिसाक्ष्य, चिकित्सीय साक्ष्य तथा अभियुक्त के आचरण से आहत के साक्ष्य की संपुष्टि होती है, इसलिए अभियुक्त की दोषसिद्धि न्यायोचित होगी ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 354 – दंड की मात्रा – अपराध कारित किए जाने की रीति – समाज की न्यायालय से मांग – समाज न्यायालय से दंड की मांग करता है और ऐसी मांग के लिए न्यायालय विधिक मापदंडों के अधीन कार्य करने के लिए आबद्ध है और विधायी आदेश के अनुसरण में दंड अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए जिसका विवेकाधिकार न्यायालय को होगा, अतः अपराध की गंभीरता और कारित किए जाने की रीति को ध्यान में रखते हुए विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत और उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि किया गया आजीवन कठोर कारावास का दंड उचित होगा ।

इस मामले में, अभियुक्त ने आठ वर्ष की कन्या के साथ बलात्संग किया है । विचारण न्यायालय ने अभियुक्त को इस अपराध का दोषी पाते हुए उसे आजीवन कठोर कारावास से दंडादिष्ट किया है । अभियुक्त ने विचारण न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर दिल्ली उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के आदेश की पुष्टि करते हुए अभियुक्त की अपील खारिज कर दी । उच्च न्यायालय के इस आदेश से व्यथित होकर अभियुक्त ने उच्चतम न्यायालय

के समक्ष अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत दंडादेश को जिसकी उच्च न्यायालय द्वारा पुष्टि की गई है सही ठहराते हुए अभियुक्त की अपील खारिज कर दी । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – डा. सपना वर्मा (अभि. सा. 4) ने आहत की चिकित्सा परीक्षा की है और उन्होंने बालिका की योनिच्छद विदीर्ण पाई । आहत ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि घटना के दिन लगभग 1.00 बजे अपराह्न में अभियुक्त अपीलार्थी घर पर आया और उसने बालिका को मादक पदार्थ पिलाया और उसे कमरे में ले गया । उसने उसके साथ बलात्संग किया और उसे यह धमकी दी यदि उसने अपने माता-पिता या अन्य किसी व्यक्ति को बताया तो वह उस पर और उसके परिवार के सदस्यों पर चाकू से वार करेगा । अपीलार्थी ने बालिका से यह भी कहा कि उसे अपने माता-पिता को यह बताना चाहिए कि उसे ये क्षतियां शौचालय में गिर जाने से कारित हुई हैं । उसके साक्ष्य में यह भी उल्लेख किया गया है कि अभियुक्त बालिका को उस समय अस्पताल ले गया था जब उसके गुप्तांगों से रक्त निकल रहा था । उसने सच्चाई के साथ यह कथन किया है कि उसने अपने माता-पिता को यह बताया था कि उसे शौचालय में गिरने के परिणामस्वरूप क्षतियां पहुंची हैं क्योंकि वह बुरी तरह डरी हुई थी और इसके पश्चात् बालिका ने साहस जुटाकर यह बताया कि उसे किस प्रकार क्षतियां पहुंची हैं । अपनी प्रतिपरीक्षा में बालिका अपने साक्ष्य पर अटल रही है । घटना घटित होने और अभियुक्त द्वारा बालिका को अस्पताल ले जाने के बीच समयांतराल स्वयं में महत्वपूर्ण है । बालिका के गुप्तांगों से रक्त बह रहा था । यदि बालिका को उसके हाल पर छोड़ दिया जाता तो रक्त बहने के कारण उसकी मृत्यु हो सकती थी । अभियुक्त ने ऐसी स्थिति आने ही नहीं दी कि कोई बालिका की चीख-पुकार सुनकर उसके पास आता और उसका जीवन बचाता और इसीलिए बालिका ने सत्य बात बताई होगी । परिस्थितियों की संपूर्णता से यह दर्शित होता है कि वह बालिका के साथ था । यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि अभियुक्त ने यह कारण स्पष्ट नहीं किया है कि वह बालिका के घर क्यों गया था और वह किन परिस्थितियों में बालिका को अस्पताल लेकर गया । बालिका के अनधिक्षेपनीय साक्ष्य, उपचार करने वाले चिकित्सकों के परिसाक्ष्य, चिकित्सीय साक्ष्य और अभियुक्त के आचरण से यह दर्शित होता है कि अभियुक्त ने बालिका के साथ क्रूरता और बर्बरतापूर्ण बलात्संग किया है

और विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा इस आधार पर अभिलिखित की गई दोषसिद्धि का उच्च न्यायालय द्वारा जो अनुमोदन किया गया है, वह गलत नहीं है । (पैरा 9)

प्राथमिक रूप से यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी अपराध में सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए दंड दिया जाता है । अपराध के प्रकृति और अपराध कारित किए जाने की रीति को ध्यान में रखते हुए दंडादेश अधिरोपित किया जाना चाहिए । दंड अधिरोपित किए जाने का मूल प्रयोजन इस सिद्धांत पर आधारित है कि अभियुक्त को यह एहसास करना चाहिए कि उसने जो अपराध कारित किया है उससे न केवल उसके चरित्र पर धब्बा लगा है अपितु उससे समाज भी प्रभावित हुआ है । दंड दिए जाने का उद्देश्य यह है कि कोई भी व्यक्ति जो समाज का एक अंग है, ऐसे अपराधों से बार-बार पीड़ित न हो । इसका उद्देश्य भयपरतकारी है । यह सत्य है कि कतिपय अवसरों पर दोषसिद्ध व्यक्ति को सुधरने के लिए अवसर दिए जाते हैं किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि किए गए अपराध और अधिरोपित शास्ति के बीच समानुपातिकता को ध्यान में रखना चाहिए । इस जटिल कार्य को करते समय न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपराध से संपूर्ण समाज पर पड़ने वाले प्रभाव और आहत पर पड़ने वाले तत्काल संचयी प्रभाव तथा प्रतिक्रिया को ध्यान में रखे । उपर्युक्त विधि की प्रतिपादना, तथ्यात्मक स्थिति, अपराध कारित किए जाने से प्रतिबिम्बित बर्बरता, समाज द्वारा न्यायालय से की जाने वाली प्रत्याशा और अपराधियों के विकृत मन की पाशविक प्रकृति की बेहिचक अनियंत्रित भावना को दृष्टिगत करते हुए, हमारे लिए इस पर विचार करना अपेक्षित है कि अपीलार्थियों पर आजीवन कठोर कारावास का दंड कहीं अत्यधिक तो नहीं या उसमें उपांतरण किया जाना चाहिए । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अपीलार्थी के चार बच्चे हैं और यदि दंडादेश इसी प्रकार कायम रखा गया तब न केवल अपराधी का जीवन अपितु उसके बच्चों का जीवन भी नष्ट हो जाएगा । अगली दलील यह दी गई है कि अपीलार्थी निर्धन परिवार से है । संक्षेप में उपर्युक्त न्यूनकारी संघटकों के आधार पर रियायत मांगी गई है । यह उल्लेखनीय है कि विधान-मंडल ने न्यूनतम दंड जो 10 वर्ष की अवधि से कम नहीं होगा, को विहित करते हुए यह भी उपबंध किया है कि दंड आजीवन कारावास तक बढ़ाया जा सकता है । विधान-मंडल ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस अवधि को न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ा है । लगभग पिछले तीन दशकों से महिलाओं के

विरुद्ध बढ़ते अपराध के संबंध में इस न्यायालय ने चिंता और खेद व्यक्त किया है । आठ वर्ष की ऐसी कन्या के साथ पाश्विक व्यवहार किया गया जिसकी खेलने-कूदने की आयु थी और उसकी भौतिक गरिमा और निष्कलंकता बर्बाद हुई है । इस कन्या की दुर्दशा और उसे पहुंचे आघात को भलीभांति समझा जा सकता है । इस कन्या को दी गई यातना से किसी भी सभ्य समाज का सुख और शांति नष्ट हो सकते हैं । पुरानी कहावत है कि "बच्चा ईश्वर का उपहार है" । यह छोटी सी कन्या समय बीतने के साथा-साथ एक भयावह अनुभव अर्थात् कभी न भूलने वाले अपमान के साथ बड़ी होगी । उसके मस्तिष्क से कभी भी वे यादें नहीं निकलेंगी जो बर्बादी से भरी हुई हैं और उसे निरंतर विषादोन्माद का आभास कराती रहेंगी । वह नारी का सम्मान नहीं जुटा सकती जिसमें उसका अपना कोई दोष नहीं है । समाज में महिला की मर्यादा का आदर करना सभ्य समाज की मूल सभ्यता को दर्शाता है । समाज का कोई भी सदस्य यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि वह किसी महिला के सम्मान को ठेस पहुंचाए । यह बात केवल शोकास्पद ही नहीं है अपितु खेदजनक भी है । यह कहना अतिशियोक्ति नहीं होगी कि नारी के अस्तित्व का अपमान करने का अर्थ, स्वीकृत सभ्य सिद्धांत अर्थात् भौतिक नैतिकता का विनाश है । ऐसी स्थिति में, उग्रता की कोई गुंजाइश नहीं है । जवानी के जोश का कोई स्थान नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान में रखना चाहिए कि एक ओर समाज पुरुषों और महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समानता के बारे में धर्मोपदेश नहीं दे पाता है और दूसरी ओर उसी समाज के कुछ अनुचित सदस्य महिला के शरीर पर हमला करके और उसके सतीत्व को नष्ट करके उसके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं । यह महिला की व्यक्तिकता और अंतर्निहित गरिमा पर इस धारणा के साथ हमला है कि वह पूरी तरह से पुरुषों की सेवा करे । बलात्संग से महिला की गरिमा अंधकारमय हो जाती है । यह महिला के पवित्र शरीर और समाज की आत्मा के साथ किया गया अपराध है और जिस प्रकार यह अपराध कारित किया जाता है उससे इस अपराध की उग्रता और बढ़ जाती है । न्यायालय ने अपराध कारित किए जाने की रीति पर बल दिया है क्योंकि वर्तमान मामले में, आहत एक आठ वर्ष की कन्या है जो संभवतः "सुखद जीवन" का सपना देखने से वंचित रहेगी और यह भी संभव है कि उसे यातनापूर्ण जीवन बिताने के लिए मानसिक रूप से विवश किया जाए । जब किसी महिला को कष्ट होता है तब संपूर्ण समाज की महिलाओं को

कष्ट होता है । इस एकल अपराध से भय का ऐसा वातावरण बन जाता है जिससे समाज भी ऐतिहासिक रूप से घृणा करता रहा है । समाज न्यायालय से दंड की मांग करता है और ऐसी मांग के लिए न्यायालय विधिक मापदंडों के अधीन कार्य करने के लिए आबद्ध हैं । यह न्याय की मांग है और विधायी आदेश के अनुसरण में दंड अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए जिसका विवेकाधिकार न्यायालय को होगा । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा प्रस्तुत किए गए न्यूनकारी संघटकों का अर्थ दया का लाभ पाना है किंतु न्यायालय का यह विचार है कि तथ्यात्मक स्थिति के अंतर्गत मजिस्ट्रेट को दया भाव का प्रयोग नहीं करना चाहिए था । न्यायालय का न्यायिक विवेकाधिकार न्यायालय को आजीवन कठोर कारावास का दंड कायम रखने के लिए विवश कर रहा है और इस प्रकार, न्यायालय ने उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषसिद्धि के निर्णय और दंडादेश को कायम रखा । (पैरा 11 और 22)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[2010]	(2010) 12 एस. सी. सी. 532 : **जमील** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	12
[2008]	ए. आई. आर. 2008 एस. सी. 582 : **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **बाबूलाल** ;	14
[2006]	(2006) 2 एस. सी. सी. 359 : **शैलेश जसवंतभाई और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और अन्य** ;	13
[1992]	(1992) 3 एस. सी. सी. 204 : **मदन गोपाल कक्कड़** बनाम **नवल दूबे और एक अन्य** ।	17

निर्दिष्ट निर्णय

[2013]	(2013) 2 स्केल 533 : **गोपाल सिंह** बनाम **उत्तराखंड राज्य** ;	15
[2012]	(2012) 6 एस. सी. सी. 297 : **जुगेन्द्र सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	21
[2000]	ए. आई. आर. 2000 एस. सी. 1470 : **कर्नाटक राज्य** बनाम **कृष्णप्पा** ;	20

[1996] ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 1393 :
पंजाब राज्य बनाम **गुरमीत सिंह और अन्य** ; 19

[1996] ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 530 :
आंध्र प्रदेश राज्य बनाम **बोदेम सुन्दर राव** । 18

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2010 की दांडिक अपील सं. 1860.

दिल्ली उच्च न्यायालय के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री मोहन पाण्डेय

प्रत्यर्थी की ओर से सुश्री अनील कटियार

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा ने दिया ।

न्या. मिश्रा – अपीलार्थी ने बेकाबू वासना, पापवृत्त बुभुक्षा, मानसिक दुराचारिता, मन को प्रकृति के निम्नतर स्तर पर ले आने, कुत्सित पाश्विक भावना की गंभीरता और पूर्णतया बेलगाम हवस के कारण ऐसा अपराध कारित किया है जिससे समाज की आत्मा को सूनामी जैसा आघात पहुंचा है । इस अपराध से समाज की गरिमा को क्षति पहुंची है, सभ्य समाज का वातावरण दूषित हुआ है और संवेदनशील राज्य की शक्ति को निष्क्रिय किया गया है । आठ वर्ष की कन्या के साथ नृशंस बलात्संग किया गया है। चेतनाशील विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने, भारतीय दंड संहिता, 1860 (संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 376(2)(च) के अधीन दोषसिद्ध करने के पश्चात् कन्या के साथ किए गए बर्बरतापूर्ण व्यवहार पर विचार किया है और उसे आजीवन कठोर कारावास भोगने और 5000/- रुपए का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त छह मास का कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया है । दिल्ली उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने "नृशंसता से आच्छादित अपराध" के रूप में वर्णन करते हुए इस पर उतनी ही खिन्नता प्रकट की है और कारावास तथा जुर्माने के दंडादेश के साथ सहमति प्रकट की है ।

2. इस न्यायालय ने नोटिस जारी किए जाने के समय पर अपनी कार्यवाही को दंड की मात्रा तक सीमित किया है । तथापि, हम संक्षेप में मामले की गुणता पर विचार करेंगे ।

3. अभियोजन पक्ष द्वारा प्रकट की गई भयावह घटना यह है कि तारीख 29 अक्तूबर, 2003 को लगभग 6.03 बजे अपराह्न में अपीलार्थी,

बिंदा साह नाम के व्यक्ति की आठ वर्ष की पुत्री को लाल बहादुर शास्त्री अस्पताल ले गया और वहां से उसे तारीख 30 अक्तूबर, 2003 को 1.03 बजे अपराह्न में गुरु तेग बहादुर अस्पताल, शाहदरा भेज दिया गया जहां उसे भर्ती करा दिया गया । जैसाकि चिकित्सा विधिक प्रमाणपत्र प्रदर्श पी. डब्ल्यू. 10/डी में अभिलिखित है, बालिका ने यह कथन किया है कि वह तारीख 29 अक्तूबर, 2003 को लगभग 2.00 बजे अपराह्न में शौचालय में गिर गई थी जिसके परिणामस्वरूप उसे क्षतियां पहुंची हैं । चिकित्सा उपचार करने वाले डाक्टर अर्थात् डा. अंजू यादव उसको बताई गई बात से सहमत नहीं हुई । तथ्यात्मक वर्णन से यह प्रकट हुआ कि ड्यूटी पर तैनात कांस्टेबल ने स्थानीय पुलिस थाने अर्थात् पुलिस थाना कल्याणपुरी को बालिका (जिसे हम इसमें इसके पश्चात् 'एम' से निर्दिष्ट करेंगे) द्वारा की गई स्वीकृति और उसकी दशा के बारे में सूचना दी जो चिकित्सा विधिक प्रमाणपत्र में उल्लिखित की गई थी । बालिका छह दिनों तक अस्पताल में भर्ती रही और इसके पश्चात् उसकी अस्पताल से छुट्टी कर दी गई । चिंतित माता को घटना से संबंधित उस कहानी पर विश्वास नहीं हो रहा था जो उसकी पुत्री ने उसे बताई थी, माता ने अपनी पुत्री को साहस दिलाया और उससे सच्चाई बताने को कहा । बालिका ने साहस किया और तारीख 10 नवंबर, 2003 को वह अपनी माता के समक्ष फूट-फूटकर रोने लगी और उसने बताया कि अपीलार्थी ने किस प्रकार बर्बरतापूर्ण बलात्संग किया है और अपीलार्थी ने उसे धमकाया है कि यदि उसने इस तथ्य के बारे में किसी को भी बताया तो उसके तथा उसके माता-पिता के जीवन को खतरा होगा । व्याकुल पिता पुलिस थाने गया और उसने जो कुछ उसकी पुत्री ने बताया, पुलिस को सूचित किया, तदनुसार प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत की गई । दांडिक विधि द्वारा कार्यवाही किए जाने के पश्चात्, अन्वेषण अभिकरण ने अभियुक्त को गिरफ्तार कर लिया, परिणामस्वरूप अभियुक्त अपीलार्थी को विचारण के लिए भेज दिया गया । अभियुक्त ने निर्दोष होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने की मांग की ।

4. अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को सिद्ध करने के लिए अभियोजन पक्ष ने बालिका 'एम', उसके माता-पिता, चिकित्सकों और अन्य औपचारिक साक्षियों सहित 11 साक्षियों की परीक्षा की । अभियुक्त ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 313 के अधीन अपने कथन में यह उल्लेख किया है कि तारीख 28 अक्तूबर, 2003 को 'एम' के माता-पिता उसके

मामा से मिलने गए थे, अतः वह अभियोक्त्री 'एम' को चिकित्सा सहायता के लिए अस्पताल ले गया किंतु लाल बहादुर शास्त्री अस्पताल में उसका उपचार करने से इस आधार पर मना कर दिया कि अभियोक्त्री का उपचार किसी बड़े अस्पताल द्वारा किया जाना चाहिए, इसलिए वह उसे चिकित्सा उपचार के लिए जी.टी.बी. अस्पताल ले गया । अभियुक्त ने यह भी स्पष्ट किया है कि वह बालिका को उसका जीवन बचाने के लिए अस्पताल ले गया था और उसे इस बात की जानकारी नहीं थी कि उसके साथ बलात्संग किया गया है । अभियुक्त ने धमकी दिए जाने के अभिवाक् पर विवाद किया है । अभियुक्त का यह भी पक्षकथन है कि आरंभ में बालिका ने चिकित्सक द्वारा पूछे जाने पर उसका नाम नहीं बताया था और बालिका ने यह बताया कि उसे ये क्षतियां गिरने के कारण पहुंची हैं, बालिका के अस्पताल से छुट्टी होने के पश्चात्, वह तारीख 4 नवंबर, 2003 को अपने काम पर चला गया । यह उल्लेखनीय है कि प्रतिरक्षा पक्ष ने कोई भी साक्षी प्रस्तुत नहीं किया है ।

5. विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने अभिलेख पर प्रस्तुत संपूर्ण साक्ष्य और अभियुक्त द्वारा किए गए प्रतिवादों पर विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि अभियोक्त्री के वृत्तांत पर पूर्ण रूप से विश्वास किया जा सकता है और यह बात कल्पना से परे है कि बालिका को सिखाया पढ़ाया गया है ; प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में हुआ विलंब बिल्कुल भी अभियोजन पक्ष के लिए घातक नहीं है क्योंकि बालिका अत्यंत भयभीत थी; बलात्संग का तथ्य चिकित्सीय साक्ष्य के आधार पर स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया है और चिकित्सकों का परिसाक्ष्य जो प्रतिपरीक्षा किए जाने के बावजूद भी विचलित नहीं हुआ है ; पक्षद्रोही होने या पूर्व शत्रुता से संबंधित कोई भी अभिवाक् बालिका से या उसके माता-पिता से नहीं किया गया है ; मकान में अभियुक्त की मौजूदगी भी स्पष्ट नहीं की गई है ; अभियोजन पक्ष द्वारा साक्षी बनाए गए किसी भी चिकित्सक को इस संबंध में कोई भी सुझाव नहीं दिया गया है कि ये क्षतियां गिरने से कारित हो सकती हैं । संपूर्ण साक्ष्य पर विस्तार से विचार करने पर, विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 376(2)(च) के अधीन अपराध का दोषी पाया और अभियुक्त को इसमें इसके ऊपर कथित रूप में दंडादिष्ट किया गया है ।

6. अपील किए जाने पर, उच्च न्यायालय ने बालिका की दशा का वर्णन करते हुए अभियुक्त द्वारा किए गए दुखांत व्यवहार, वे परिस्थितियां

जिनके अंतर्गत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई गई, अभियोक्त्री की कहानी कि उसके साथ किस प्रकार क्रूरतापूर्ण बलात्संग किया गया, बालिका के मकान पर अपीलार्थी के जाने के संबंध में स्पष्टीकरण न दिए जाने, वे परिस्थितियां जिनमें अपीलार्थी आहत बालिका को देख सकता था, बालिका के साक्ष्य की विश्वसनीयता और अनभियोज्यता, भय और ह्रास के वातावरण से बाहर निकलकर बालिका का पुनः साहस जुटाने, चिकित्सकों का वह साक्ष्य जिससे आहत की शारीरिक दशा प्रकट होती है और अभियुक्त का अस्पताल में आचरण जैसे कई घटकों पर विचार किया है और उक्त आधार पर विद्वान् विचारण न्यायाधीश के मत से सहमति व्यक्त की है ।

7. हमने अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल और विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री पारस कुहाड़ और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री बी. वी. बलराम दास को सुना है ।

8. विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा दिए गए दोषसिद्धि के निर्णय जिसकी पुष्टि खंडपीठ द्वारा की गई है, की न्याययुक्तता पर विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि आहत को पहुंची क्षतियों की प्रकृति का मूल्यांकन किया जाए । यह सत्य है कि बालिका ने चिकित्सकों को बताया था कि उसे गिरने से क्षतियां पहुंची हैं किंतु उसका उपचार करने वाले चिकित्सकों को बालिका की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ । बालिका का चिकित्सा प्रमाणपत्र, जिसमें उसकी शारीरिक दशा का उल्लेख है, निम्न प्रकार है :–

> "परीक्षण किए जाने पर – लड़की घबराई हुई दिखाई दे रही है, लड़की का रंग गोरा है, चेहरा हल्का पीला दिखाई दे रहा है, हृदय गति 96 प्रति मिनट है, रक्तदाब 110/80 है, हृदय में कोई भी असामान्यता दिखाई नहीं दे रही है । शरीर पर रगड़ का कोई भी चिह्न नहीं है । स्तन और पश्चात्वर्ती लैंगिक लक्षण विकसित नहीं है । फुप्फुस-धमनी लोचदार है, यकृत और प्लीहा स्पर्शगोचर हैं । नीरसता दिखाई नहीं दे रही है, शरीर में कहीं भी कमजोरी प्रतीत नहीं हो रही है । शरीर के निचले भाग का परीक्षण – भगोष्ठ को खोलने पर लगभग 1.5 सें.मी. से 2 सें.मी. माप का कटाव दिखाई दे रहा है जो गुदा द्वार से केवल 1 सें.मी. की दूरी पर है और ऐसा ही कटाव योनिच्छद तक फैला हुआ है । योनि में रक्त का थक्का दिखाई दे रहा

है, गुदा द्वार ठीक हालत में है । उसके चारों ओर कोई भी रगड़ के चिह्न दिखाई नहीं दे रहे हैं । योनि में रक्त मौजूद है । योनि में आए कटाव की शल्यचिकित्सा करने के लिए रोगी को मूर्छित करने का विनिश्चय लिया गया । रोगी को प्रसूति कक्ष में भर्ती किया गया और वहां से योनि रोग संबंधी शल्यचिकित्सा-थियेटर में ले जाया गया । रोगी को बेहोश करके ऊपर उल्लिखित निष्कर्ष ही सामने आया किंतु योनिच्छद से लेकर योनि के बाएं ओर की भित्ति तक लगभग 3 सें.मी. माप का कटाव पाया गया है । रक्तस्राव सकारात्मक है । कटाव का ऊपरी भाग दृष्टिगोचर है, कटाव की परतों में टांके लगे हुए हैं, गर्भाशय स्वस्थ्य है उसमें से रक्तस्राव नहीं हो रहा है, रोगी को बेहोश करने के पश्चात् किए गए परीक्षण से इस बात का पूर्ण संदेह होता है कि उसके साथ बलात्संग किया गया है । यद्यपि कन्या व उसका चाचा ऐसी घटना से इनकार कर रहे हैं ।"

9. डा. सपना वर्मा (अभि. सा. 4) ने आहत की चिकित्सा परीक्षा की है और उन्होंने बालिका की योनिच्छद विदीर्ण पाई । आहत ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि घटना के दिन लगभग 1.00 बजे अपराह्न में अभियुक्त अपीलार्थी घर पर आया और उसने बालिका को मादक पदार्थ पिलाया और उसे कमरे में ले गया । उसने उसके साथ बलात्संग किया और उसे यह धमकी दी कि यदि उसने अपने माता-पिता या अन्य किसी व्यक्ति को बताया तो वह उस पर और उसके परिवार के सदस्यों पर चाकू से वार करेगा । अपीलार्थी ने बालिका से यह भी कहा कि उसे अपने माता-पिता को यह बताना चाहिए कि उसे ये क्षतियां शौचालय में गिर जाने से कारित हुई हैं । उसके साक्ष्य में यह भी उल्लेख किया गया है कि अभियुक्त बालिका को उस समय अस्पताल ले गया था जब उसके गुप्तांगों से रक्त निकल रहा था । उसने सच्चाई के साथ यह कथन किया है कि उसने अपने माता-पिता को यह बतया था कि उसे शौचालय में गिरने के परिणामस्वरूप क्षतियां पहुंची हैं क्योंकि वह बुरी तरह डरी हुई थी और इसके पश्चात् बालिका ने साहस जुटाकर यह बताया कि उसे किस प्रकार क्षतियां पहुंची हैं । अपनी प्रतिपरीक्षा में बालिका अपने साक्ष्य पर अटल रही है । घटना घटित होने और अभियुक्त द्वारा बालिका को अस्पताल ले जाने के बीच समयांतराल स्वयं में महत्वपूर्ण है । बालिका के गुप्तांगों से रक्त बह रहा था । यदि बालिका को उसके हाल पर छोड़ दिया जाता तो रक्त बहने के कारण उसकी मृत्यु हो सकती थी । अभियुक्त ने ऐसी स्थिति आने

ही नहीं दी कि कोई बालिका की चीख-पुकार सुनकर उसके पास आता और उसका जीवन बचाता और इसीलिए बालिका ने सत्य बात बताई होगी । परिस्थितियों की संपूर्णता से यह दर्शित होता है कि वह बालिका के साथ था । यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि अभियुक्त ने यह कारण स्पष्ट नहीं किया है कि वह बालिका के घर क्यों गया था और वह किन परिस्थितियों में बालिका को अस्पताल लेकर गया । बालिका के अनधिक्षेपनीय साक्ष्य, उपचार करने वाले चिकित्सकों के परिसाक्ष्य, चिकित्सीय साक्ष्य और अभियुक्त के आचरण से यह दर्शित होता है कि अभियुक्त ने बालिका के साथ क्रूरता और बर्बरतापूर्ण बलात्संग किया है और विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा इस आधार पर अभिलिखित की गई दोषसिद्धि का उच्च न्यायालय द्वारा जो अनुमोदन किया गया है, वह गलत नहीं है ।

10. वर्तमान में, हम दंडादेश के न्यायौचित्य के संबंध में विचार करेंगे। अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि यद्यपि दंड संहिता की धारा 376(2) के अधीन यह उपबंध किया गया है कि दंडादेश कठोर आजीवन कारावास हो सकता है, फिर भी कम से कम दस वर्ष के दंड का अनुबंध किया गया है, इसलिए इस न्यायालय को चाहिए कि वह दंड की मात्रा घटाकर दस वर्ष कर दे । काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई है कि अपीलार्थी चार बच्चों का पिता है और यदि आजीवन कारावास के दंड की पुष्टि की जाती है तो उसके बच्चों का जीवन बर्बाद हो जाएगा । राज्य की ओर से श्री पारस कुहाड़ और श्री बी. वी. बलराम दास ने यह दलील दी है कि जघन्य अपराध होने के कारण अभियुक्त पर अधिरोपित दंडादेश पूर्णतया न्यायोचित है और उसमें हस्तक्षेप किए जाने की आवश्यकता नहीं है । उन्होंने यह भी दलील दी है कि ऐसे मामले में दंड की मात्रा कम करने से उचित दंड के सिद्धांत के लिए एक अभिशाप है ।

11. प्राथमिक रूप से यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी अपराध में सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए दंड दिया जाता है । अपराध के प्रकृति और अपराध कारित किए जाने की रीति को ध्यान में रखते हुए दंडादेश अधिरोपित किया जाना चाहिए । दंड अधिरोपित किए जाने का मूल प्रयोजन इस सिद्धांत पर आधारित है कि अभियुक्त को यह एहसास करना चाहिए कि उसने जो अपराध कारित किया है उससे न केवल उसके चरित्र पर धब्बा लगा है अपितु उससे समाज भी प्रभावित हुआ है । दंड दिए जाने का उद्देश्य यह है कि कोई भी व्यक्ति जो समाज का

एक अंग है, ऐसे अपराधों से बार-बार पीड़ित न हो । इसका उद्देश्य भयपरतकारी है । यह सत्य है कि कतिपय अवसरों पर दोषसिद्ध व्यक्ति को सुधरने के लिए अवसर दिए जाते हैं किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि किए गए अपराध और अधिरोपित शास्ति के बीच समानुपातिकता को ध्यान में रखना चाहिए । इस जटिल कार्य को करते समय न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपराध से संपूर्ण समाज पर पड़ने वाले प्रभाव और आहत पर पड़ने वाले तत्काल संचयी प्रभाव तथा प्रतिक्रिया को ध्यान में रखे ।

12. इस संदर्भ में हम **जमील** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में दिए गए निर्णय को निर्दिष्ट करेंगे जिसमें इस न्यायालय ने दंडादेश के सिद्धांत पर विचार करते हुए यह अधिकथित किया है कि प्रत्येक न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह अपराध की प्रकृति और अपराध किस रीति में कारित किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए समुचित दंडादेश अधिनिर्णीत करना चाहिए । दंडादेश पारित करने वाले न्यायालयों से यह प्रत्याशा की जाती है कि वे दंडादेश के प्रश्न से संबंधित सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करें और अपराध की गंभीरता के समानुपातिक दंडादेश अधिरोपित करें ।

13. **शैलेश जसवंतभाई और एक अन्य** बनाम **गुजरात राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न मत व्यक्त किया है :–

> "**फ्रेडमैन** ने अपनी पुस्तक 'ला इन चेंजिंग सोसाइटी' में यह उल्लेख किया है कि 'दांडिक विधि की दशा जैसी होती है वैसी ही बनी रहनी चाहिए – अर्थात् उससे समाज की निर्णायक जागरूकता प्रवर्तित होनी चाहिए ।' अतः, दंड प्रणाली को चलाने के लिए विधि का सुधार करने वाली दंड संबंधी व्यवस्था अपनानी चाहिए या सतथ्य व्यूह के आधार पर सुधार किया जाना चाहिए । दक्ष संक्रम द्वारा दंडादेश की प्रक्रिया, जहां आवश्यक हो, कठोर होनी चाहिए और यदि आवश्यक हो तो उसमें दया भाव भी होना चाहिए । प्रत्येक मामले में तथ्य और परिस्थितियां, अपराध की प्रकृति, वह रीति जिसमें अपराध कारित किया गया है और उसके कारित किए जाने की योजना बनाई गई है, अपराध के हेतु, अभियुक्त के आचरण, अपराध में प्रयोग किए गए हथियारों की प्रकृति और अन्य उपस्थायी परिस्थितियां ऐसे

---

[1] (2010) 12 एस. सी. सी. 532.

[2] (2006) 2 एस. सी. सी. 359.

सुसंगत तथ्य हैं जिन पर, दंडादेश देते समय, न्यायालय द्वारा विचार किया जाना चाहिए ।"

14. **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **बाबूलाल**[1] वाले मामले में दंडादेश की उपयुक्तता का उल्लेख करते हुए दो विद्वान् न्यायाधीशों ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है :–

"19. दंड वह आदेश है जो अपराधी द्वारा विधि का अतिलंघन किए जाने पर अधिरोपित किया जाता है । जब एक बार किसी व्यक्ति का किसी अपराध को कारित किए जाने के लिए विचारण किया जाता है और उसे किसी सक्षम न्यायालय द्वारा दोषी पाया जाता है तब न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह विधि द्वारा विहित दंडादेश अधिरोपित करे । दंडादेश का अधिनिर्णय पारिणामिक है और दोषसिद्धि के प्रति प्रासंगिक है । विधि के अंतर्गत यह परिकल्पना नहीं की गई है कि किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध तो किया जाए परंतु उस अपराध के लिए उस पर दंड अधिरोपित न किया जाए ।"

20. दंड का उद्देश्य संक्षिप्त रूप से हॉल्सबरी द्वारा लिखित पुस्तक लॉज ऑफ इंग्लैंड के चौथे संस्करण, जिल्द - II के पैरा 482 में इस प्रकार उल्लिखित है :–

"दंड के उद्देश्य अब बदला, न्याय, निवारण, सुधार और संरक्षा माने गए हैं और दंड के नवीन सिद्धांत से इन सभी उद्देश्यों का संयोजन प्रकट होता है । प्रतिकरात्मक तत्व का उद्देश्य अपराध के प्रति लोक प्रत्युत्तेजन को प्रकट करना और अपराधी को उसके द्वारा किए गए गलत कार्य के लिए दंडित करना है । दंड के उद्देश्य के रूप में न्याय के सिद्धांत का अर्थ यह है कि दंड अपराध से मेल खाए और इस प्रकार के अपराधों में ऐसा ही दंड दिया जाए । दंड से संबंधित अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू निवारण है और दंडादेशों का उद्देश्य केवल वास्तविक अपराधी को अपराधों से रोकना नहीं है अपितु बड़े अपराधियों को विधि का भंग करने से भी रोकना है । अपराधी का सुधार करने का महत्व नवीन विधान-मंडल द्वारा त्वरित रूप में समझा गया है किंतु इस विशिष्ट उद्देश्य की ओर न्यायिक राय भिन्न है और आम तौर पर सुधार

---

[1] ए. आई. आर. 2008 एस. सी. 582.

को निवारण पर वरीयता नहीं दी जा सकती है । तथापि, न्यायिक विचार से दंड का मुख्य उद्देश्य समाज की संरक्षा करना है और अन्य उद्देश्य दंडादेश विनिश्चित किए जाने के समय पर अप्रधान रूप से विचार में लाए जाते हैं ।"

15. **गोपाल सिंह** बनाम **उत्तराखंड राज्य**[1] वाले मामले में दंड जो समाज की संचयी चिंता है, के सिद्धांत पर विचार करते हुए खंड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया है कि दंड मामले के तथ्यों पर निर्भर होता है और न्यायिक विवेकाधिकार के अनुसार दिया जाता है । इसे निर्धारित करने में न्यायाधीश की व्यक्तिगत सोच या निजी नैतिक दृष्टिकोण या परिकल्पना का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए । प्रत्येक अपराध के लिए कठोर तरीका नहीं अपनाया जा सकता । इसी प्रकार, मात्र इस कारण से कि न्यायालय को विवेकाधिकार निहित है, अपराधी के साथ रियायत नहीं बरती जा सकती है । महत्वपूर्ण बात यह है कि उन परिस्थितियों और संबंधित संघटकों पर विचार किया जाना चाहिए जिनमें अपराध कारित किया गया है ।

16. उपर्युक्त निर्णय विधि आम तौर पर दंड के संबंध में है । जैसाकि देखा गया है, अपराध की गंभीरता, अपराध कारित किए जाने की रीति, अपराध का समाज पर प्रभाव, आहत पर अपराध का प्रतिघात और दंड की आनुपातिकता जैसे बहुत से सिद्धांतों पर विचार किया गया है । वर्तमान मामले में, हमें आठ वर्ष की आयु की असहाय और नाजुक कन्या के साथ बलात्संग किए जाने के मामले में आजीवन कारावास के न्यायौचित्य पर विचार करना है । आहत पर शारीरिक और मनोवैज्ञानिक रूप से बुरा प्रभाव पड़ा है । यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि किसी भी प्रकार से किए गए लैंगिक हमले पर इस न्यायालय द्वारा सदैव गंभीरता और संवेदनशीलता के साथ विचार किया गया है ।

17. **मदन गोपाल कक्कड़** बनाम **नवल दूबे और एक अन्य**[2] वाले मामले में निम्न मत व्यक्त किया गया है :–

".....यद्यपि बालिकाओं पर किए गए सभी लैंगिक हमलों में रिपोर्ट नहीं की जाती है और वे लोगों की जानकारी में नहीं आ पाते हैं फिर भी बच्चों के साथ होने वाले लैंगिक अपराधों में चिंताजनक

---

[1] (2013) 2 स्केल 533.

[2] (1992) 3 एस. सी. सी. 204.

वृद्धि हो रही है । इसका यह कारण है कि बच्चे बलात्संग के अपराध से अनभिज्ञ हैं और वे इसका प्रतिरोध नहीं कर पाते हैं और वे आसानी से ऐसे अपराधियों की वासना का शिकार हो जाते हैं जो निर्लज्ज, कपटपूर्ण और छलपूर्ण कला से बालिकाओं और नवयुवतियों को फुसलाते हैं । अतः, ऐसे अपराधियों को जो समाज के लिए खतरा हैं, निर्दयता और नृशंसता के साथ कठोर दंड दिया जाना चाहिए ।"

18. **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **बोदेम सुन्दर राव**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह विचार किया है कि महिलाओं के प्रति अपराध बढ़ रहे हैं और ऐसे अपराध समाज की मानवीय गरिमा के विरुद्ध हैं, अतः अनुचित दंड अधिरोपित किए जाने से विशेषकर इस अपराध के आहतों के साथ और आम तौर पर समाज के साथ अन्याय होगा । इस स्थिति को ध्यान में रखने के पश्चात्, विद्वान् न्यायाधीशों ने यह राय व्यक्त की :–

"न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे दंड अधिनिर्णीत किए जाने के समय पर ऐसे अपराधियों पर ऐसा दंड अधिरोपित करें जो न्याय के लिए की गई समाज की पुकार के अनुरूप हो । अपराध के प्रति जो लोक घृणा है वह दंड के संबंध में न्यायालय के निर्णय द्वारा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए । समुचित दंड अधिरोपित किए जाने के समय पर, न्यायालयों को केवल अपराधियों के अधिकारों को ही नहीं अपितु अपराध से आहत हुए व्यक्तियों और पूर्ण समाज के अधिकारों को भी ध्यान में रखना चाहिए ।"

19. **पंजाब राज्य** बनाम **गुरमीत सिंह और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने चिंता व्यक्त की है कि महिलाओं के साथ होने वाले अनेक अपराधों विशेषकर बलात्संग की वृद्धि हो रही है । विद्वान् न्यायाधीश ने यह भी मत व्यक्त किया है कि यह व्यंग्य होगा कि हम पूरे संसार में महिला के अधिकारों से संबंधित उत्सव मनाते हैं किन्तु हमें उसके मान-सम्मान की कोई भी चिन्ता नहीं होती । इससे समाज का ऐसा रूप दिखाई देता है जिससे लैंगिक अपराध के आहतों की मानवीय गरिमा का अतिक्रमण होता है । इसके पश्चात् न्यायालय ने बलात्संग के आहत पर पड़ने वाले प्रभाव को अत्यंत वेदना के साथ इस प्रकार व्यक्त किया है :–

"हमें यह याद रखना चाहिए कि बलात्संग करने वाला अपराधी

---

[1] ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 530.

[2] ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 1393.

न केवल आहत की गुप्तता और वैयक्तिक ईमानदारी का अतिक्रमण करता है अपितु इससे अपरिहार्य रूप से आहत को मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक क्षति पहुंचती है । बलात्संग केवल शारीरिक हमला नहीं है – इससे आहत का संपूर्ण व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है । हत्या करने वाला आहत के शरीर को नष्ट करता है किंतु बलात्संग करने वाला अपराधी असहाय महिला की आत्मा को अपमानित करता है ।"

20. **कर्नाटक राज्य** बनाम **कृष्णप्पा**[1] वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने यह राय व्यक्त की है कि न्यायालयों को कम आयु की निर्दोष असहाय कन्याओं के साथ होने वाले जघन्य अपराध के मामलों में न्याय के लिए की गई समाज की पुकार को सुनना चाहिए और समुचित दंडादेश अधिरोपित करके इसका जवाब देना चाहिए । अपराध के प्रति जो लोक घृणा है वह दंड के संबंध में न्यायालय के निर्णय द्वारा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए । यह भी मत व्यक्त किया गया है कि ऐसे जघन्य अपराध में दया प्रकट करना न्याय के विरुद्ध होगा और रियायत के लिए किया गया अभिवाक् पूर्णतया गलत होगा ।

21. **जुगेन्द्र सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[2] वाले मामले में बलात्संग के अपराध की गंभीरता पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है :–

"बलात्संग या बलात्संग का प्रयास किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध अपराध नहीं है अपितु इससे सामाजिक वातावरण की मूल साम्यता नष्ट हो जाती है । यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी महिला के शरीर पर करने वाले अपराध से उसकी गरिमा का अवतरण होता है और उसकी छवि धूमिल होती है । यह कहा जाता है कि किसी पुरुष या महिला का शरीर मंदिर समान होता है । किसी को भी अतिचार करने का अधिकार नहीं है । अभियुक्त द्वारा क्षणभर के आनंद के लिए किए गए प्रयास से एक बालिका की मृत्यु हुई है और विशेषकर उसके परिवार पर बुरा प्रभाव पड़ा है । जब कोई परिवार इस प्रकार पीड़ित होता है, तब समाज को पीड़ा सहनी होती है और इससे अपरिहार्य हानि पहुंचती है ।"

22. उपर्युक्त विधि की प्रतिपादना, तथ्यात्मक स्थिति, अपराध कारित

---

[1] ए. आई. आर. 2000 एस. सी. 1470.

[2] (2012) 6 एस. सी. सी. 297.

किए जाने से प्रतिबिम्बित बर्बरता, समाज द्वारा न्यायालय से की जाने वाली प्रत्याशा और अपराधियों के विकृत मन की पाश्विक प्रकृति की बेहिचक अनियंत्रित भावना को दृष्टिगत करते हुए, हमारे लिए इस पर विचार करना अपेक्षित है कि अपीलार्थियों पर आजीवन कठोर कारावास का दंड कहीं अत्यधिक तो नहीं या उसमें उपांतरण किया जाना चाहिए । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि अपीलार्थी के चार बच्चे हैं और यदि दंडादेश इसी प्रकार कायम रखा गया तब न केवल अपराधी का जीवन अपितु उसके बच्चों का जीवन भी नष्ट हो जाएगा । अगली दलील यह दी गई है कि अपीलार्थी निर्धन परिवार से है । संक्षेप में उपर्युक्त न्यूनकारी संघटकों के आधार पर रियायत मांगी गई है । यह उल्लेखनीय है कि विधानमंडल ने न्यूनतम दंड जो 10 वर्ष की अवधि से कम नहीं होगा, को विहित करते हुए यह भी उपबंध किया है कि दंड आजीवन कारावास तक बढ़ाया जा सकता है । विधानमंडल ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस अवधि को न्यायालय के विवेकाधिकार पर छोड़ा है । लगभग पिछले तीन दशकों से महिलाओं के विरुद्ध बढ़ते अपराध के संबंध में इस न्यायालय ने चिंता और खेद व्यक्त किया है । आठ वर्ष की ऐसी कन्या के साथ पाश्विक व्यवहार किया गया जिसकी खेलने-कूदने की आयु थी और उसकी भौतिक गरिमा और निष्कलंकता बर्बाद हुई है । इस कन्या की दुर्दशा और उसे पहुंचे आघात को भलीभांति समझा जा सकता है । इस कन्या को दी गई यातना से किसी भी सभ्य समाज का सुख और शांति नष्ट हो सकते हैं । पुरानी कहावत है कि ''बच्चा ईश्वर का उपहार है'' । यह छोटी सी कन्या समय बीतने के साथ-साथ एक भयावह अनुभव अर्थात् कभी न भूलने वाले अपमान के साथ बड़ी होगी । उसके मस्तिष्क से कभी भी वे यादें नहीं निकलेंगी जो बर्बादी से भरी हुई हैं और उसे निरंतर विषादोन्माद का आभास कराती रहेंगी । वह नारी का सम्मान नहीं जुटा सकती जिसमें उसका अपना कोई दोष नहीं है । समाज में महिला की मर्यादा का आदर करना सभ्य समाज की मूल सभ्यता को दर्शाता है । समाज का कोई भी सदस्य यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि वह किसी महिला के सम्मान को ठेस पहुंचाए । यह बात केवल शोकास्पद ही नहीं है अपितु खेदजनक भी है । यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नारी के अस्तित्व का अपमान करने का अर्थ, स्वीकृत सभ्य सिद्धांत अर्थात् भौतिक नैतिकता का विनाश है । ऐसी स्थिति में, उग्रता की कोई गुंजाइश नहीं है । जवानी के जोश का कोई स्थान नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान में रखना

चाहिए कि एक ओर समाज पुरुषों और महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समानता के बारे में धर्मोपदेश नहीं दे पाता है और दूसरी ओर उसी समाज के कुछ अनुचित सदस्य महिला के शरीर पर हमला करके और उसके सतीत्व को नष्ट करके उसके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं । यह महिला की व्यक्तिकता और अंतर्निहित गरिमा पर इस धारणा के साथ हमला है कि वह पूरी तरह से पुरुषों की सेवा करे । बलात्संग से महिला की गरिमा अंधकारमय हो जाती है । यह महिला के पवित्र शरीर और समाज की आत्मा के साथ किया गया अपराध है और जिस प्रकार यह अपराध कारित किया जाता है उससे इस अपराध की उग्रता और बढ़ जाती है । हमने अपराध कारित किए जाने की रीति पर बल दिया है क्योंकि वर्तमान मामले में, आहत एक आठ वर्ष की कन्या है जो संभवतः ''सुखद जीवन'' का सपना देखने से वंचित रहेगी और यह भी संभव है कि उसे यातनापूर्ण जीवन बिताने के लिए मानसिक रूप से विवश किया जाए । जब किसी महिला को कष्ट होता है तब संपूर्ण समाज की महिलाओं को कष्ट होता है । इस एकल अपराध से भय का ऐसा वातावरण बन जाता है जिससे समाज भी ऐतिहासिक रूप से घृणा करता रहा है । समाज न्यायालय से दंड की मांग करता है और ऐसी मांग के लिए न्यायालय विधिक मापदंडों के अधीन कार्य करने के लिए आबद्ध हैं । यह न्याय की मांग है और विधायी आदेश के अनुसरण में दंड अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए जिसका विवेकाधिकार न्यायालय को होगा । अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल द्वारा प्रस्तुत किए गए न्यूनकारी संघटकों का अर्थ दया का लाभ पाना है किंतु हमारा यह विचार है कि तथ्यात्मक स्थिति के अंतर्गत मजिस्ट्रेट को दया भाव का प्रयोग नहीं करना चाहिए था । हमारा न्यायिक विवेकाधिकार हमें आजीवन कठोर कारावास का दंड कायम रखने के लिए विवश कर रहा है और इस प्रकार, हम उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषसिद्धि के निर्णय और दंडादेश को कायम रखते हैं ।

23. परिणामतः, अपील में कोई सार न होने के कारण यह खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

अस.

राजस्थान राज्य

बनाम

शंभू केवट और एक अन्य

28 नवम्बर, 2013

न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् और न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 482 और 320 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 307] – उच्च न्यायालय द्वारा पक्षकारों के बीच हुए समझौते के आधार पर अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए अशमनीय अपराध का शमन किया जाना – अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते समय अपराध की प्रकृति और गंभीरता तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के प्रति सम्यक् ध्यान दिया जाना आवश्यक है, जिनकी उच्च न्यायालय द्वारा पूर्णतः अनदेखी की गई और यह दृष्टिकोण अपनाकर गलती की गई कि अभिकथित अपराध संपूर्ण समाज के विरुद्ध न होकर एक व्यक्ति के विरुद्ध था और धनीय प्रतिकर प्राप्त करके मामला तय कर लेने पर अभियुक्तों के विरुद्ध अपराध समाप्त हो गया था ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 482 और 320 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 307] – उच्च न्यायालय द्वारा पक्षकारों के बीच हुए समझौते के आधार पर अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए अशमनीय अपराध का शमन किया जाना – दांडिक न्याय व्यवस्था – उद्देश्य – दांडिक न्याय व्यवस्था का उद्देश्य समस्त लोगों की सुरक्षा और संरक्षा करना है और गंभीर अपराध पर नरम दृष्टिकोण अपनाने से दांडिक न्याय व्यवस्था के बारे में एक गलत छाप छूटेगी तथा आपराधिक कृत्यों को बढ़ावा मिलेगा जो समाज के शांतिपूर्ण सामंजस्य और कल्याण के लिए खतरनाक होगा ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, अभियुक्त-प्रत्यर्थी शिकायतकर्ता की दुकान से उधार पर सामान लिया करते थे । उधार की रकम अधिक होने पर शिकायतकर्ता ने घटना के दिन अभियुक्तों को आगे उधार पर सामान देने से इनकार कर दिया । प्रत्यर्थी-अभियुक्त वापस चले गए और बाद में लोहे की छड़ तथा तलवार जैसी लोहे की पत्ती से लैस होकर वापस आए और शिकायतकर्ता को सिर पर गंभीर क्षतियां कारित कीं । अभियुक्तों के

विरुद्ध मामला दर्ज किया गया । विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्तों-प्रत्यर्थियों को शिकायतकर्ता को गंभीर क्षति कारित करने के लिए भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया गया । अभियुक्तों ने दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय में अपील फाइल की । जब तारीख 16 नवम्बर, 2011 को अपील सुनवाई के लिए आई, तो शिकायतकर्ता अब्दुल रशीद, जो न्यायालय में मौजूद था, ने यह कथन किया कि उसका और अभियुक्तों का एक समझौता हो गया है और उस समझौते के आधार पर उसने अभियुक्तों से उसे पहुंची क्षतियों के लिए प्रतिकर की रकम प्राप्त कर ली है और वह अपील को जारी रखने का इच्छुक नहीं है और यह अनुरोध किया गया कि मामले का शमन किया जाए और अपील मंजूर की जाए । उच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि चूंकि पक्षकारों में समझौता हो गया है और उन्होंने अपने विवाद और मतभेद सुलझा लिए हैं, अतः यह न्याय के हित में होगा कि अपील मंजूर की जाए । परिणामतः, अपील मंजूर की गई और अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन अपराध के लिए दोषमुक्त कर दिया गया । राज्य ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय द्वारा अनुरोध को स्वीकार करने के लिए उल्लिखित कारणों की परीक्षा की है । उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और 320 की व्याप्ति की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि समझौते के आधार पर किसी मामले का शमन करने और अभिखंडित करने के बीच कतिपय समानताएं और विभिन्नताएं हैं और इसलिए समझौते के आधार पर किसी दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित करना पूर्णतः न्यायालय की वैवेकिक शक्ति के अंतर्गत है । यह भी राय व्यक्त की गई है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के अधीन शक्ति संकीर्ण और सीमित है, जबकि धारा 482 के अधीन शक्ति व्यापक, अप्रतिम और सर्वोत्तम है । तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय ने यह राय व्यक्त की कि यह ऐसा मामला है जहां पक्षकारों के बीच लड़ाई क्षणभर में और गर्मागर्मी के कारण हुई थी तथा हमला "संपूर्ण समाज के विरुद्ध" अपराध के बजाय "एक व्यक्ति के विरुद्ध" अधिक था । प्रस्तुत मामले में घटना तारीख 30 अक्तूबर, 2008 को घटी थी । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त उस दिन लोहे की छड़ और एक लोहे

की पत्ती से लैस होकर सामान्य आशय से क्षतिग्रस्त अब्दुल रशीद की दुकान पर गए और अपने सामान्य आशय को अग्रसर करते हुए अब्दुल रशीद के शरीर पर गंभीर क्षतियां कारित कीं, जिनमें से क्षति सं. 4 उसके सिर पर थी जो गंभीर प्रकृति की थी । इस न्यायालय ने यह पाया है कि सेशन न्यायालय द्वारा क्षतियों की गंभीरता को विचार में लिया गया था और उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए 10 वर्ष का कठोर कारावास अधिनिर्णीत किया था, किंतु उच्च न्यायालय द्वारा नहीं । उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय द्वारा अधिकथित किए गए विभिन्न सिद्धांतों की पूर्णतः अनदेखी की है और यह दृष्टिकोण अपनाकर गलती की है कि अब्दुल रशीद के शरीर पर क्षतियां तत्काल और क्षणिक गर्मागर्मी में हुई लड़ाई में कारित की गई थीं । इस न्यायालय द्वारा स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 482 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय "अपराध की प्रकृति और गंभीरता" तथा "समाज पर पड़ने वाले प्रभाव" के प्रति सम्यक् ध्यान दिया जाना आवश्यक है । उच्च न्यायालय द्वारा इन दोनों पहलुओं की पूर्णतः अनदेखी की गई है । उच्च न्यायालय ने सरसरी रीति में, मस्तिष्क का प्रयोग किए बिना, अंधाधुंध, पक्षकारों के इस कथन को स्वीकार कर लिया कि उन्होंने अपने विवादों और मतभेदों को तय कर लिया है और यह दृष्टिकोण अपनाया कि यह अपराध "संपूर्ण समाज के विरुद्ध" के बजाय "एक व्यक्ति के विरुद्ध" था । यह न्यायालय यह कहने के लिए तैयार नहीं है कि अभियुक्तों द्वारा अभिकथित रूप से कारित किया गया अपराध एक व्यक्ति के विरुद्ध था, अपितु यह अपराध संपूर्ण समाज के विरुद्ध था । दांडिक विधि समाजिक नियंत्रण की प्राप्ति के लिए एक क्रियाविधि के रूप में परिकल्पित की गई है और इसका प्रयोजन समाज के भीतर आचरण और क्रियाकलापों का विनियमन करना है । भारतीय दंड संहिता की धारा 307 को क्यों अशमनीय अभिनिर्धारित किया गया है, क्योंकि संहिता में यह पहचान की गई है कि कौन-सा आचरण अशमनीय अपराधों की परिधि के अंतर्गत लाया जाना चाहिए । ऐसे उपबंधों का उद्देश्य केवल एक व्यक्ति की संरक्षा करना नहीं, अपितु संपूर्ण समाज की संरक्षा करना है । उच्च न्यायालय का यह सोचना सही नहीं था कि यह क्षति केवल एक व्यक्ति को पहुंची थी और चूंकि अभियुक्तों से धनीय प्रतिकर प्राप्त करके मामला तय कर लेने पर उनके विरुद्ध अपराध समाप्त हो गया था । दांडिक न्याय व्यवस्था बृहत्तर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, अर्थात् इसका उद्देश्य समस्त लोगों की सुरक्षा और संरक्षा करना है और यह न केवल अपराधी के लिए अपितु

समस्त व्यक्तियों के लिए एक सबक होगा, ताकि किसी भी व्यक्ति द्वारा ऐसे अपराध कारित न किए जाएं और समाज के विरुद्ध कारित किए गए अपराध के लिए धन एक अनुकल्प नहीं होगा । वर्तमान अपराध जैसे किसी गंभीर अपराध पर नरम दृष्टिकोण अपनाना दांडिक न्याय व्यवस्था के बारे में एक गलत छाप छोड़ेगा तथा आपराधिक कृत्यों को और बढ़ावा मिलेगा, जो बृहत्त समाज के शांतिपूर्ण सामंजस्य और कल्याण को खतरे में डालेगा । (पैरा 4, 12, 14 और 15)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2012]	(2012) 10 एस. एस. सी. 303 : **ज्ञान सिंह** बनाम **पंजाब राज्य और एक अन्य** ;	6
[2011]	(2011) 10 एस. सी. सी. 765 : **गुलाब दास और अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	10
[2011]	(2011) 13 एस. सी. सी. 311 : **राजेन्द्र हरकचंद भंडारी और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	11
[2008]	(2008) 15 एस. सी. सी. 667 : **ईश्वर सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ।	10

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 2018.

2009 की अपील सं. 825 में राजस्थान उच्च न्यायालय के तारीख 12 दिसम्बर, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री इरशाद अहमद

प्रत्यर्थियों की ओर से श्री विपिन कुमार (श्री रामेश्वर प्रसाद गोयल की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् ने दिया ।

न्या. राधाकृष्णन् – इजाजत दी जाती है ।

2. इस अपील में के प्रत्यर्थियों को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307, 323, 325 और 427 के अधीन दंडनीय अपराधों

के लिए आरोप पत्रित किया गया था । उनका विचारण अपर सेशन न्यायाधीश, त्वरित न्यायालय सं. 1, कोटा, राजस्थान के समक्ष किया गया था । अभियोजन पक्ष की ओर से अभि. सा. 1 से 5 की परीक्षा कराई गई थी और प्रदर्श पी1-पी12 प्रस्तुत किए गए थे । प्रतिरक्षा पक्ष की ओर से द्वितीय अभियुक्त की प्रति. सा. 1 के रूप में परीक्षा की गई थी । सेशन न्यायालय ने पक्षकारों को सुनने और मौखिक तथा दस्तावेजी साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् अपने तारीख 9 जुलाई, 2009 के आदेश द्वारा अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी पाया, किंतु उन्हें शेष आरोपों से दोषमुक्त कर दिया । बाद में अभियुक्तों की दंडादेश के प्रश्न पर सुनवाई की गई और उन्होंने यह कथन किया कि वे आदतन अपराधी नहीं हैं तथा उनकी आयु क्रमशः 26 और 28 वर्ष है । इसके अतिरिक्त, यह भी बताया गया कि वे गरीब श्रमिक हैं और विवाहित हैं तथा उनके बच्चे हैं । आगे यह भी बताया गया कि क्षतियां अचानक प्रकोपन के कारण कारित की गई थीं और पूर्व-चिंतन से कारित नहीं की गई थीं । विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों और अभियोजन पक्ष को सुनने के पश्चात् दंडादेश पर निम्नलिखित आदेश पारित किया :–

> "दोनों पक्षकारों को सुना । उपरोक्त दलीलों के आधार पर मामले की फाइल का परिशीलन किया । यद्यपि अभियोजन पक्ष द्वारा अभियुक्तों के विरुद्ध कोई आपराधिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत नहीं की गई और न ही आदतन अपराधी होने के बारे में कोई दलील दी गई, तथापि, फाइल पर आए साक्ष्य से यह तथ्य सिद्ध किया गया है कि अभियुक्त बनवारी और शंभू शिकायतकर्ता अब्दुल रशीद से उधार पर वस्तुएं लेते थे और घटना के दिन भी उधार पर वस्तुएं लेने आए थे और धन के बकाया के कारण उसने उधार पर वस्तुएं देने से इनकार कर दिया । वे पुनः घटनास्थल पर आए । उसके लगभग 10 मिनट पश्चात् दोनों अभियुक्त लोहे की छड़ और तलवार जैसी लोहे की पत्ती लेकर योजनाबद्ध रीति से आए और दोनों ने एकसाथ अब्दुल रशीद पर हिंसक आक्रमण किया । अब्दुल रशीद के सिर पर घातक क्षति कारित करने से सिर की हड्डी का टुकड़ा मस्तिष्क के अंदर चला गया । डाक्टर ने शल्यक्रिया की और इसे बाहर निकाला । इसके पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता है कि अभियुक्तों ने अनजाने में, उकसाने पर अचानक अब्दुल रशीद को उक्त क्षति कारित की थी

और उनके द्वारा यह कृत्य कारित करने के लिए कोई आशय नहीं था या ऐसा कृत्य कारित करने के लिए कोई प्रयोजन नहीं था । अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन मामला संदेह के परे साबित किया गया है । इसलिए इस स्थिति में अभियुक्तों के प्रति नरम दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता है । माननीय उच्चतम न्यायालय ने अनेक मामलों में इस आशय को दर्शित किया है कि यदि अभियुक्त को नरमी दी जाती है, तो इससे समाज में आपराधिक लोगों को बढ़ावा मिलेगा । अभियुक्तों ने किसी कारण के बिना अपनी दुकान पर बैठे हुए शिकायतकर्ता को क्षतिग्रस्त किया । इस कृत्य को दुकान में बैठे हुए समाज के अन्य लोगों द्वारा देखा गया था । अभियुक्तों के साथ नरम दृष्टिकोण अपनाने से समाज के अन्य लोगों का न्याय से विश्वास उठ जाएगा । ऐसी स्थिति में, माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निदेशों के अनुसार अभियुक्तों को निम्न प्रकार से दंडित किया जाता है –

दंडादेश का आदेश

अतः अभियुक्त शंभू पुत्र बाबू लाल और अभियुक्त बनवारी लाल पुत्र बाबू लाल केवट, निवासी इकबाल चौक, सकटपुरा, कोटा को भारतीय दंड संहिता की धारा 427 के अधीन आरोप से दोषमुक्त किया जाता है और दोनों अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन आरोप के लिए दोषसिद्ध किया जाता है और 10-10 (दस-दस) वर्ष के कठोर कारावास और 5000-5000/-रुपए (पांच-पांच हजार रुपए) के जुर्माने का दंडादेश दिया जाता है । जुर्माने की रकम के संदाय में व्यतिक्रम करने की दशा में 3-3 मास का अतिरिक्त साधारण कारावास भोगेंगे । अभियुक्तों द्वारा पुलिस/न्यायिक अभिरक्षा में व्यतीत की गई अवधि को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 428 के उपबंध के अधीन मूल दंडादेश की अवधि में समायोजित किया जाएगा । दंडादेश का अधिपत्र तैयार किया जाए । मामले में बरामद की गई संपत्ति, लोहे की छड़ और तलवार जैसी लोहे की पत्ती को निदेशानुसार अपील की परिसीमा का पर्यवसान होने के पश्चात् नष्ट कर दिया जाए ।"

3. अभियुक्तों ने दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय में 2009 की एकल न्यायपीठ दांडिक अपील सं. 825 फाइल की । जब तारीख 16 नवम्बर, 2011 को अपील सुनवाई के लिए

आई, तो शिकायतकर्ता अब्दुल रशीद, जो न्यायालय में मौजूद था, ने यह कथन किया कि उसका और अभियुक्तों का एक समझौता हो गया है और उस समझौते के आधार पर उसने अभियुक्तों से उसे पहुंची क्षतियों के लिए प्रतिकर की रकम प्राप्त कर ली है । परिणामतः, यह कहा गया कि वह अपील को जारी रखने का इच्छुक नहीं है । शिकायतकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने उच्च न्यायालय के समक्ष यह दलील दी कि चूंकि पक्षकारों ने मतभेदों को भूला दिया है और चूंकि कारित किया गया अपराध "राज्य के विरुद्ध" के बजाय "एक व्यक्ति के विरुद्ध" था और अभियुक्तों को सलाखों के पीछे रखने से कोई उपयोगी प्रयोजन पूरा नहीं होगा, इसलिए यह अनुरोध किया गया कि मामले का शमन किया जाए और अपील मंजूर की जाए ।

4. हमने उच्च न्यायालय द्वारा अनुरोध को स्वीकार करने के लिए उल्लिखित कारणों की परीक्षा की है । उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और 320 की व्याप्ति की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि समझौते के आधार पर किसी मामले का शमन करने और अभिखंडित करने के बीच कतिपय समानताएं और विभिन्नताएं हैं और इसलिए समझौते के आधार पर किसी दांडिक कार्यवाही को अभिखंडित करना पूर्णतः न्यायालय की वैवेकिक शक्ति के अंतर्गत है । यह भी राय व्यक्त की गई है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के अधीन शक्ति संकीर्ण और सीमित है, जबकि धारा 482 के अधीन शक्ति व्यापक, अप्रतिम और सर्वोत्तम है । तथ्यों के आधार पर उच्च न्यायालय ने यह राय व्यक्त की कि यह ऐसा मामला है जहां पक्षकारों के बीच लड़ाई क्षणभर में और गर्मागर्मी के कारण हुई थी तथा हमला "संपूर्ण समाज के विरुद्ध" अपराध के बजाय "एक व्यक्ति के विरुद्ध" अधिक था । उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "वर्तमान मामले में, लड़ाई क्षणभर में गर्मागर्मी के कारण हुई थी । अभियोजन पक्ष के अनुसार, जब दोनों पक्षों के बीच कहा-सुनी हो रही थी, तो अपीलार्थियों ने अभिकथित रूप से अब्दुल रशीद (अभि. सा. 3) पर हमला किया । हमला संपूर्ण समाज के विरुद्ध अपराध के बजाय एक व्यक्ति के विरुद्ध अधिक था । स्वीकृततः, दोनों पक्षकारों के बीच एक समझौता हो गया है । उन्होंने अपने मतभेदों को सुलझा लिया है । इस प्रकार, अपील को मंजूर करना न्याय के हित में होगा ।"

5. उच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि चूंकि पक्षकारों में

समझौता हो गया है और उन्होंने अपने विवाद और मतभेद सुलझा लिए हैं, यह न्याय के हित में होगा कि अपील मंजूर की जाए । परिणामतः, अपील मंजूर की गई और अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 307 के अधीन अपराध के लिए दोषमुक्त कर दिया गया । इससे व्यथित होकर यह अपील फाइल की गई है ।

6. राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने **ज्ञान सिंह** बनाम **पंजाब राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और 320 की व्याप्ति और परिधि तथा किसी अशमनीय अपराध में अंतर्वलित दांडिक कार्यवाहियों को, पक्षकारों के बीच हुए समझौते को दृष्टिगत करते हुए, अभिखंडित करने के लिए दांडिक न्यायालय को प्रदत्त की गई शक्तियों के संबंध में अधिकथित किए गए विभिन्न सिद्धांतों को पूरी तरह से गलत पढ़ा है और गलत अर्थ निकाला है । इस न्यायालय द्वारा अधिकथित किए गए विभिन्न मार्गदर्शक सिद्धांतों को भी अनदेखा किया गया है । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में भी गलती की है कि अपराध, जो साबित किया गया है, राज्य के विरुद्ध न होकर केवल एक व्यक्ति के विरुद्ध था । विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि सेशन न्यायाधीश ने क्षतियों की प्रकृति की यथोचित रूप से अवेक्षा की थी और ठीक ही इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि अभियुक्तों ने अचानक प्रकोपन के कारण क्षतियां कारित नहीं की थीं, अपितु यह एक पूर्व-चिंतन से कारित की गई घटना थी और विचारण न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए 10 वर्ष का कठोर कारावास ठीक ही अधिनिर्णीत किया है ।

7. दूसरी ओर, प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि पक्षकारों में समझौता हो गया था और समझौते के आधार पर अभियुक्तों ने शिकायतकर्ता को उसे पहुंची क्षतियों के लिए एक बड़ी रकम संदत्त कर दी थी और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि अभिकथित अपराध किसी पूर्व-चिंतन के बिना क्षणभर में कारित किया गया था, इसलिए उच्च न्यायालय का अपराध का शमन और अभियुक्तों को दोषमुक्त करना न्यायोचित्यपूर्ण था ।

8. हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि **ज्ञान सिंह** (उपरोक्त) वाले

---

[1] (2012) 10 एस. एस. सी. 303.

मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अपराधी और विपदग्रस्त के बीच हुए समझौते के आधार पर अपराध या दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करना अपराधों का शमन करने के समान नहीं है । इस न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के अधीन अपराधों को शमन करने के लिए प्रदत्त शक्ति उच्च न्यायालय द्वारा दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए धारा 482 के अधीन प्रदत्त शक्ति से तात्विक रूप से भिन्न है । अपराधों का शमन करने में किसी दांडिक न्यायालय की शक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 में अंतर्विष्ट उपबंधों द्वारा सीमित है और न्यायालय पूरी तरह से इन उपबंधों द्वारा मार्गदर्शित होता है, जबकि, दूसरी ओर, उच्च न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन किसी दांडिक कार्यवाही या दांडिक शिकायत को अभिखंडित करने के लिए यह राय बनाना, कि क्या शक्ति का ऐसा प्रयोग करना न्याय की प्राप्ति के लिए औचित्यपूर्ण होगा, अभिलेख पर की सामग्री द्वारा मार्गदर्शित होता है, यद्यपि अंततोगत्वा परिणाम अभियोग से दोषमुक्ति या खारिजी हो सकता है ।

9. न्यायालय ने यह भी राय व्यक्त की कि उच्च न्यायालय की किसी दांडिक कार्यवाही या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या शिकायत को अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते हुए अभिखंडित करने की शक्ति किसी दांडिक न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के अधीन अपराधों का शमन करने के लिए दी गई शक्ति से भिन्न और अलग है । इस न्यायालय ने आगे यह भी राय व्यक्त की कि अंतर्निहित शक्ति किसी कानूनी परिसीमा के बिना अति व्यापक है किंतु इसका प्रयोग ऐसी शक्ति से संलग्न मार्गदर्शक सिद्धांतों के अनुसार अर्थात् (i) न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, या (ii) किसी न्यायालय की कार्यवाही के दुरूपयोग को रोकने के लिए किया जाना चाहिए । इस न्यायालय ने यह भी सचेत किया कि अपराध का शमन करने की शक्ति का प्रयोग करते हुए न्यायालय को अपराध की प्रकृति और घोरता के प्रति अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए ।

10. हमने, इस मामले में, स्वीकृततः यह अवेक्षा की है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन कारित अपराध शमनीय नहीं है । **ईश्वर सिंह** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में अभियुक्त ने अभिकथित रूप से भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय

---

[1] (2008) 15 एस. सी. सी. 667.

अपराध कारित किया और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के प्रति निर्देश करके यह अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 307 के अधीन अपराध एक शमनीय अपराध नहीं है और धारा 320 में यह अभिव्यक्त वर्जन है कि ऐसे किसी अपराध का शमन नहीं होगा यदि वह संहिता के अधीन शमनीय नहीं है । **गुलाब दास और अन्य** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा एक भिन्न व्याख्या की गई, किंतु भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध का शमन करने के लिए कतिपय कारणों का उल्लेख किया गया । उस मामले में इस न्यायालय ने यह पाया कि घटना वर्ष 1994 में घटी थी और पक्षकार परस्पर नातेदार थे । घटना के समय दोनों अभियुक्तों की आयु 20 वर्ष के आस-पास थी । इसके अतिरिक्त, यह भी पाया गया कि शिकायतकर्ता के विरुद्ध भी एक प्रति मामला दर्ज किया गया था, जिसमें उसे दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया गया था । आगे यह भी पाया गया कि अभियुक्तों ने कतिपय अवधि का दंडादेश भी भुगता था । पक्षकारों के बीच जो मामला तय हुआ था, उसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 325 के साथ-साथ धारा 323 के अधीन दंडनीय अपराध भी अंतर्वलित थे । ऐसी परिस्थितियों में न्यायालय ने यह महसूस किया कि पक्षकारों के बीच हुआ समझौता संविवाद से मुक्ति पाने के लिए एक बुद्धिमानीपूर्ण कार्य था । न्यायालय ने दोषसिद्धि को कायम रखते हुए अभियुक्तों को दिए गए दंडादेश को उस अवधि तक कम कर दिया जो वे पहले ही भुगत चुके थे ।

11. **राजेन्द्र हरकचंद भंडारी और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करना था कि क्या भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध का पक्षकारों के बीच हुए समझौते के निबंधनों के अनुसार शमन किया जा सकता है या नहीं । स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया कि भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन अपराध दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320(9) के निबंधनों के अनुसार शमनीय नहीं है और ऐसे अपराध का शमन करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता । इसके अतिरिक्त, इस तथ्य पर विचार करते हुए कि घटना वर्ष 1991 में घटी थी और तब से लेकर लगभग 20 वर्ष बीत चुके हैं, और अभियुक्त पेशे से कृषक हैं और कोई पूर्ववर्ती आपराधिक पृष्ठभूमि नहीं है तथा पक्षकारों के बीच सुलह हो गई थी, न्यायालय ने यह

---

[1] (2011) 10 एस. सी. सी. 765.

[2] (2011) 13 एस. सी. सी. 311.

अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्तों को दिए गए मूल दंडादेश को पहले ही भोगी गई अवधि तक कम कर देने से न्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो जाएगी ।

12. हम यह पाते हैं कि इस मामले में ऐसी स्थिति उद्भूत नहीं होती है । प्रस्तुत मामले में घटना तारीख 30 अक्तूबर, 2008 को घटी थी । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अभियुक्त उस दिन लोहे की छड़ और एक लोहे की पत्ती से लैस होकर सामान्य आशय से क्षतिग्रस्त अब्दुल रशीद की दुकान पर गए और अपने सामान्य आशय को अग्रसर करते हुए अब्दुल रशीद के शरीर पर गंभीर क्षतियां कारित कीं, जिनमें से क्षति सं. 4 उसके सिर पर थी जो गंभीर प्रकृति की थी ।

13. डा. राकेश शर्मा, अभि. सा. 5 ने यह कथन किया कि अब्दुल रशीद को कारित की गई क्षतियों में से क्षति सं. 4 ऐसी क्षति थी जो सिर पर थी और वह क्षति "गंभीर और जीवन के लिए घातक" थी । अभि. सा. 8, डा. उदय भोमिक ने भी यह राय व्यक्त की कि अब्दुल रशीद के सिर पर एक गंभीर क्षति कारित की गई थी । डा. उदय ने तंत्रिका शल्य चिकित्सक के रूप में अब्दुल रशीद की क्षतियों की शल्यक्रिया की थी और अभि. सा. 5, डा. राकेश शर्मा द्वारा व्यक्त की गई इस राय का पूरी तरह समर्थन किया कि क्षति सं. 4 "गंभीर और जीवन के लिए घातक" थी ।

14. हमने यह पाया है कि सेशन न्यायालय द्वारा क्षतियों की गंभीरता को विचार में लिया गया था और उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए 10 वर्ष का कठोर कारावास अधिनिर्णीत किया था, किंतु उच्च न्यायालय द्वारा नहीं । उच्च न्यायालय ने **ज्ञान सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित किए गए विभिन्न सिद्धांतों की पूर्णतः अनदेखी की है और यह दृष्टिकोण अपनाकर गलती की है कि अब्दुल रशीद के शरीर पर क्षतियां तत्काल और क्षणिक गर्मागर्मी में हुई लड़ाई में कारित की गई थीं । **ज्ञान सिंह** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि धारा 482 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते समय "अपराध की प्रकृति और गंभीरता" तथा "समाज पर पड़ने वाले प्रभाव" के प्रति सम्यक् ध्यान दिया जाना आवश्यक है । उच्च न्यायालय द्वारा इन दोनों पहलुओं की पूर्णतः अनदेखी की गई है । उच्च न्यायालय ने सरसरी रीति में, मस्तिष्क का प्रयोग किए बिना, अंधाधुंध, पक्षकारों के इस कथन को स्वीकार कर लिया कि उन्होंने अपने विवादों और मतभेदों को तय कर लिया है और यह

दृष्टिकोण अपनाया कि यह अपराध "संपूर्ण समाज के विरुद्ध" के बजाय "एक व्यक्ति के विरुद्ध" था ।

15. हम यह कहने के लिए तैयार नहीं हैं कि अभियुक्तों द्वारा अभिकथित रूप से कारित किया गया अपराध एक व्यक्ति के विरुद्ध था, अपितु यह अपराध संपूर्ण समाज के विरुद्ध था । दांडिक विधि सामाजिक नियंत्रण की प्राप्ति के लिए एक क्रियाविधि के रूप में परिकल्पित की गई है और इसका प्रयोजन समाज के भीतर आचरण और क्रियाकलापों का विनियमन करना है । भारतीय दंड संहिता की धारा 307 को क्यों अशमनीय अभिनिर्धारित किया गया है, क्योंकि संहिता में यह पहचान की गई है कि कौन-सा आचरण अशमनीय अपराधों की परिधि के अंतर्गत लाया जाना चाहिए । ऐसे उपबंधों का उद्देश्य केवल एक व्यक्ति की संरक्षा करना नहीं, अपितु संपूर्ण समाज की संरक्षा करना है । उच्च न्यायालय का यह सोचना सही नहीं था कि यह क्षति केवल एक व्यक्ति को पहुंची थी और चूंकि अभियुक्तों से धनीय प्रतिकर प्राप्त करके मामला तय कर लेने पर उनके विरुद्ध अपराध समाप्त हो गया था । दांडिक न्याय व्यवस्था बृहत्तर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है, अर्थात् इसका उद्देश्य समस्त लोगों की सुरक्षा और संरक्षा करना है और यह न केवल अपराधी के लिए अपितु समस्त व्यक्तियों के लिए एक सबक है, ताकि किसी भी व्यक्ति द्वारा ऐसे अपराध कारित न किए जाएं और समाज के विरुद्ध कारित किए गए अपराध के लिए धन एक अनुकल्प नहीं होगा । वर्तमान अपराध जैसे किसी गंभीर अपराध पर नरम दृष्टिकोण अपनाना दांडिक न्याय व्यवस्था के बारे में एक गलत छाप छोड़ेगा तथा आपराधिक कृत्यों को और बढ़ावा मिलेगा, जो बृहत्त समाज के शांतिपूर्ण सामंजस्य और कल्याण को खतरे में डालेगा ।

16. इसलिए हम इस अपील को मंजूर करते हैं और उच्च न्यायालय के निर्णय को अपास्त करते हैं । उच्च न्यायालय समझौते से अत्यधिक प्रभावित हुआ है और उसने मामले की गुणागुण के आधार पर परीक्षा नहीं की है, इसलिए हम उच्च न्यायालय को निदेश देते हैं कि अपील को वापस अपनी फाइल पर ले और गुणागुण के आधार पर अपील का विनिश्चय करे । उच्च न्यायालय इस अपील का निपटारा छह माह में करेगा । तद्नुसार आदेश किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

जॉन के. अब्राहम

बनाम

साइमन सी. अब्राहम और एक अन्य

5 दिसम्बर, 2013

न्यायमूर्ति सुरिन्द्र सिंह निज्जर और न्यायमूर्ति फक़ीर मोहम्मद इब्राहिम कलिफुल्ला

परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (1881 का 2) – धारा 138 – चैक का अनादरण – प्रत्यर्थी-शिकायतकर्ता के साक्ष्य में अपीलार्थी-अभियुक्त को उधार दिए गए धन की तारीख, उधार की रकम का चैक किसने लिखा, संव्यवहार कब और कहां किया गया आदि के बारे में पाई गई विभिन्न त्रुटियों के कारण शिकायतकर्ता का मामला साबित नहीं होने पर अपीलार्थी-अभियुक्त को दोषमुक्त करना उचित है और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटकर अवैधता की है ।

अपील के तथ्यों के अनुसार प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, पथनमथिट्टा के समक्ष यह अभिकथन करते हुए परिवाद प्रस्तुत किया गया कि अपीलार्थी ने उससे 1,50,000/- रुपए की राशि उधार ली थी और तारीख 20 जून, 2001 को उक्त राशि का इंडियन ओवरसीज बैंक, पलांकामोन शाखा के नाम लिखा गया एक चैक ऋण के उन्मोचन के लिए जारी किया गया था । जब चैक को पथनमथिट्टा जिला सहकारी बैंक, कोज़ेनचेरी शाखा के माध्यम से भुनाने के लिए प्रस्तुत किया गया, तो बैंक द्वारा इसे "अभियुक्त के खाते में अपर्याप्त निधि" पृष्ठांकन के साथ लौटा दिया गया । प्रत्यर्थी-परिवादी ने कथित रूप से तारीख 14 जुलाई, 2001 को वकील की सूचना जारी की, जो अपीलार्थी द्वारा तारीख 16 जुलाई, 2001 को प्राप्त की गई किंतु फिर भी अपीलार्थी से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ । परिवाद में अभिकथित उपरोक्त प्राख्यानों के आधार पर विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा मामले का विचारण किया गया । विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने प्रत्यर्थी-परिवादी की ओर से प्रस्तुत किए गए मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी-परिवादी चैक जारी करने के विषय में एक टाल-मटोल कथन कर रहा है और उसे वह तारीख तक ज्ञात नहीं है जब अपीलार्थी द्वारा कथित रूप से रकम उधार ली गई थी तथा लिखत में तात्विक परिवर्तन किया गया है, इसलिए प्रत्यर्थी परक्राम्य लिखत

अधिनियम की धारा 138 के अधीन मामला सिद्ध करने में असफल रहा है । परिणामस्वरूप, विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थी को दोषी नहीं पाया और उसे दोषमुक्त कर दिया । प्रत्यर्थी ने एर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय में अपील फाइल की और उच्च न्यायालय ने आक्षेपित आदेश द्वारा विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के निर्णय को उलट दिया और अपीलार्थी को दोषसिद्ध किया तथा प्रतिकर के रूप में 1,50,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का दंडादेश अधिरोपित किया । अपीलार्थी को जुर्माने की रकम का संदाय करने में व्यतिक्रम करने पर तीन मास का साधारण कारावास भोगने के लिए निदेशित किया गया । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस अपील में आक्षेपित निर्णय की परीक्षा करने पर इस न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि उच्च न्यायालय ने विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट के निर्णय को उलटकर गंभीर अवैधता की है । विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने जिस बात को महत्व दिया, यह है कि धारा 313 के अधीन किए गए प्रश्नों में अपीलार्थी का यह पक्षकथन नहीं था कि उसके पुत्र को एक निरंक हस्ताक्षरित चैक सौंपा गया था और यहां तक कि प्रतिपरीक्षा में भी अभि. सा. 1 से यह बात नहीं कही गई थी कि उसे एक निरंक चैक जारी किया गया था । उच्च न्यायालय इस तथ्य से भी प्रेरित हुआ कि अपीलार्थी प्रत्यर्थी द्वारा जारी की गई वकील की सूचना का कोई उत्तर भेजने में असफल रहा । उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर, उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 118 और 139 के अधीन आसानी से उपधारणा की जा सकती है और यह कि अपीलार्थी उक्त उपधारणा का खंडन करने में असफल रहा है । उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने केवल इस एक कारण के आधार पर विचारण न्यायाधीश के निर्णय को उलट दिया और अपीलार्थी को दोषसिद्ध किया । यह उल्लेख करना होगा कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 के साथ पठित धारा 118 के अधीन उपधारणा करने के लिए परिवादी पर यह दर्शित करने का अत्यधिक भार था कि उसे अभियुक्त को धन उधार देने के लिए निधियों की आवश्यकता थी; उधार दी गई उक्त रकम के समर्थन में चैक जारी करना सही था और अभियुक्त संदाय करने के लिए आबद्ध था क्योंकि वह परिवादी के पक्ष में चैक जारी करते समय सहमत हुआ था । उक्त कानूनी अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, प्रत्यर्थी-

परिवादी द्वारा यथा स्वीकृत तथ्यों की परीक्षा करने पर, जैसाकि विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा ठीक ही निष्कर्ष निकाला गया है, प्रत्यर्थी को वह तारीख भी ज्ञात नहीं थी जब उसके द्वारा अपीलार्थी को 1,50,000/- रुपए की बड़ी रकम उधार दी गई थी और वह इस बारे में आश्वस्त नहीं था कि चैक किसने लिखा था तथा उसे यहां तक भी ज्ञात नहीं था कि वह संव्यवहार सही-सही कब और कहां किया गया था, जिसके लिए अपीलार्थी द्वारा चैक जारी किया गया था । परिवादी के साक्ष्य में उक्त गंभीर खामी के अतिरिक्त, उसने अभि. सा. 1 के रूप में प्रतिपरीक्षा के दौरान एक बार यह भी स्वीकार किया था कि चैक अभियुक्त के हस्तलेख में था और अगले ही क्षण पूर्णतया विपरीत आधार अपनाया कि चैक अभियुक्त के हस्तलेख में नहीं था और इसे स्वयं परिवादी द्वारा लिखा गया था और यह भी दोहराया कि शब्दों में रकम उसके द्वारा लिखी गई थी । इस न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि उच्च न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी के साक्ष्य में की विभिन्न कमियों, जोकि विचारण न्यायालय द्वारा पाई गई हैं, की कोई वैध कारण दिए बिना उपेक्षा की गई है । परिवादी के साक्ष्य में की ऐसी गंभीर खामी, जो धारा 138 के अधीन परिवाद की तह तक जाती है और जिसका विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा उल्लेख किया गया है, और उच्च न्यायालय द्वारा विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए इस बात की परीक्षा करने में असफल रहने से उसके द्वारा निकाला गया अंतिम निष्कर्ष दूषित हो जाता है । परिणामतः, उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश का निष्कर्ष एक अनुचित निष्कर्ष की कोटि में आता है और इसलिए उच्च न्यायालय का उक्त निर्णय कायम नहीं रखा जा सकता है । (पैरा 9 और 10)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 2043.

2004 की दांडिक अपील सं. 452 में एर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय के तारीख 15 दिसम्बर, 2010 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री रोमी चाको और केदार नाथ त्रिपाठी
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री जोगी सेयरिया और शशि भूषण कुमार

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति फक़ीर मोहम्मद इब्राहिम कलिफुल्ला ने दिया ।

न्या. कलिफुल्ला – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील 2004 की दांडिक अपील सं. 452 में एर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 15 दिसम्बर, 2010 को पारित किए गए निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत की गई है ।

3. इस अपील में अंतर्वलित मुद्दा परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन उद्भूत हुआ है । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, पथनमथिट्टा के समक्ष यह अभिकथन करते हुए परिवाद प्रस्तुत किया गया कि अपीलार्थी ने उससे 1,50,000/- रुपए की राशि उधार ली थी और तारीख 20 जून, 2001 को उक्त राशि का इंडियन ओवरसीज बैंक, पलांकामोन शाखा के नाम लिखा गया एक चैक ऋण के उन्मोचन के लिए जारी किया गया था । प्रत्यर्थी-परिवादी का आगे यह पक्षकथन है कि जब चैक को पथनमथिट्टा जिला सहकारी बैंक, कोज़ेनचेरी शाखा के माध्यम से भुनाने के लिए प्रस्तुत किया गया, तो बैंक द्वारा इसे "अभियुक्त के खाते में अपर्याप्त निधि" पृष्ठांकन के साथ लौटा दिया गया । प्रत्यर्थी-परिवादी ने कथित रूप से तारीख 14 जुलाई, 2001 को वकील की एक सूचना जारी की, जो अपीलार्थी द्वारा तारीख 16 जुलाई, 2001 को प्राप्त की गई किंतु फिर भी अपीलार्थी से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ । परिवाद में अभिकथित उपरोक्त प्राख्यानों के आधार पर विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा मामले का विचारण किया गया ।

4. इस मामले में प्रत्यर्थी की अभि. सा. 1 के रूप में परीक्षा की गई और प्रदर्श पी-1 से पी-6 चिह्नित किए गए । अपीलार्थी की ओर से किसी व्यक्ति की परीक्षा नहीं कराई गई । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अपीलार्थी से किए गए प्रश्नों में उसने यह आधार लिया कि उसके पुत्र ने उससे चैक ले लिया था और यदि कोई वसूली की जानी है, तो वह अपीलार्थी के पुत्र से की जानी चाहिए चूंकि अपीलार्थी ने कोई धन उधार नहीं लिया था ।

5. विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने प्रत्यर्थी-परिवादी की ओर से प्रस्तुत किए गए मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी-परिवादी चैक जारी करने के विषय में एक टाल-मटोल कथन कर रहा है और उसे वह तारीख तक ज्ञात नहीं है जब अपीलार्थी द्वारा कथित रूप से रकम उधार ली गई थी तथा लिखत में तात्विक परिवर्तन किया गया है, इसलिए प्रत्यर्थी परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन मामला सिद्ध करने में असफल रहा है ।

परिणामस्वरूप, विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थी को दोषी नहीं पाया और उसे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 255(1) के अधीन दोषमुक्त कर दिया । प्रत्यर्थी ने एर्नाकुलम स्थित केरल उच्च न्यायालय में अपील फाइल की और उच्च न्यायालय ने आक्षेपित आदेश द्वारा विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के निर्णय को उलट दिया और अपीलार्थी को दोषसिद्ध किया तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 357(1) के अधीन प्रतिकर के रूप में 1,50,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का दंडादेश अधिरोपित किया । अपीलार्थी को जुर्माने की रकम का संदाय करने में व्यतिक्रम करने पर तीन मास का साधारण कारावास भोगने के लिए निदेशित किया गया ।

6. हमने अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री रोमी चाको और द्वितीय प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री जोगी सेयरिया को सुना । हमने हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के निर्णय सहित तात्विक कागजातों का भी परिशीलन किया । उपरोक्त साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटकर गलती की है ।

7. विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष यथा प्रक्षेपित प्रत्यर्थी-परिवादी के पक्षकथन तथा विचारण न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए तात्विक साक्ष्य की परीक्षा करने पर हम यह पाते हैं कि विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी-परिवादी के पक्षकथन में कतिपय महत्वपूर्ण कमियां पाई थीं । विद्वान् मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा पाई गईं ये कमियां निम्नलिखित हैं :–

(क) यद्यपि प्रत्यर्थी ने अभि. सा. 1 के रूप में यह अभिसाक्ष्य दिया है कि अभियुक्त ने धन उसके मकान पर प्राप्त किया था, किंतु यह भी कथन किया है कि उसे वह तारीख स्मरण नहीं है जब 1,50,000/- रुपए की उक्त राशि उसे संदत्त की गई थी ।

(ख) उधार देने के लिए 1,50,000/- रुपए की राशि के स्रोत के विषय में प्रत्यर्थी ने यह दावा कि 50,000/- रुपए की राशि, जो उसने महाविद्यालय, जहां वह नियोजित है, की को-आपरेटिव सोसाइटी से ऋण के रूप में लिए थे, के अतिरिक्त यह राशि पारिवारिक संपत्ति से और उसके हिस्से के विक्रय प्रतिफल में से मिली थी । यद्यपि प्रत्यर्थी ने निचले न्यायालय के समक्ष यह कथन किया कि वह उक्त आधार के समर्थन में दस्तावेज प्रस्तुत कर देगा, किंतु यह पाया गया कि निचले न्यायालय के समक्ष कोई दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किया गया ।

(ग) प्रत्यर्थी ने प्रतिपरीक्षा के दौरान यह कथन किया कि चैक पर हस्ताक्षर उस तारीख को किए गए थे जब संदाय किया गया था, फिर भी उसने यह कथन किया कि उसे वह तारीख ज्ञात नहीं है जब उसने 1,50,000/- रुपए संदत्त किए थे ।

(घ) प्रत्यर्थी के अनुसार, चैक स्वयं अभियुक्त के हस्तलेख में लिखा गया था और अगले ही क्षण उसने एक विरोधाभासी कथन किया कि चैक अपीलार्थी के हस्तलेख में नहीं था और चैक उसने (परिवादी) लिखा था ।

(ङ) प्रत्यर्थी ने यह भी कथन किया कि रकम शब्दों में उसके द्वारा लिखी गई थी ।

(च) विचारण न्यायालय ने यह भी पाया कि प्रत्यर्थी का यह पक्षकथन नहीं है कि चैक लिखने और अंक भरने का काम अभियुक्त-अपीलार्थी की सम्मति से किया गया था ।

8. उपरोक्त साक्ष्य, जिसमें विरोधाभासों के अतिरिक्त बहुत सारी तात्विक कमियां हैं, को ध्यान में रखते हुए विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन उसके विरुद्ध अभिकथित अपराध का दोषी नहीं है और उसे दोषमुक्त कर दिया ।

9. उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए, इस अपील में आक्षेपित निर्णय की परीक्षा करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि उच्च न्यायालय ने विद्वान् न्यायिक मजिस्ट्रेट के निर्णय को उलटकर गंभीर अवैधता की है । विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने जिस बात को महत्व दिया वह यह है कि धारा 313 के अधीन किए गए प्रश्नों में अपीलार्थी का यह पक्षकथन नहीं था कि उसके पुत्र को एक निरंक हस्ताक्षरित चैक सौंपा गया था और यहां तक कि प्रतिपरीक्षा में भी अभि. सा. 1 से यह बात नहीं कही गई थी कि उसे एक निरंक चैक जारी किया गया था । उच्च न्यायालय इस तथ्य से भी प्रेरित हुआ कि अपीलार्थी प्रत्यर्थी द्वारा जारी की गई वकील की सूचना का कोई उत्तर भेजने में असफल रहा । उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर, उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 118 और 139 के अधीन आसानी से उपधारणा की जा सकती है और यह कि अपीलार्थी उक्त उपधारणा का खंडन करने में असफल रहा

है । उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने केवल इस एक कारण के आधार पर विचारण न्यायाधीश के निर्णय को उलट दिया और अपीलार्थी को दोषसिद्ध किया । यह उल्लेख करना होगा कि परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 139 के साथ पठित धारा 118 के अधीन उपधारणा करने के लिए परिवादी पर यह दर्शित करने का अत्यधिक भार था कि उसे अभियुक्त को धन उधार देने के लिए निधियों की आवश्यकता थी; उधार दी गई उक्त रकम के समर्थन में चैक जारी करना सही था और अभियुक्त संदाय करने के लिए आबद्ध था क्योंकि वह परिवादी के पक्ष में चैक जारी करते समय सहमत हुआ था ।

10. उक्त कानूनी अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए, प्रत्यर्थी-परिवादी द्वारा यथा स्वीकृत तथ्यों की परीक्षा करने पर, जैसाकि विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा ठीक ही निष्कर्ष निकाला गया है, प्रत्यर्थी को वह तारीख भी ज्ञात नहीं थी जब उसके द्वारा अपीलार्थी को 1,50,000/- रुपए की बड़ी रकम उधार दी गई थी और वह इस बारे में आश्वस्त नहीं था कि चैक किसने लिखा था तथा उसे यहां तक भी ज्ञात नहीं था कि वह संव्यवहार सही-सही कब और कहां किया गया था जिसके लिए अपीलार्थी द्वारा चैक जारी किया गया था । परिवादी के साक्ष्य में उक्त गंभीर खामी के अतिरिक्त, उसने अभि. सा. 1 के रूप में प्रतिपरीक्षा के दौरान एक बार यह भी स्वीकार किया था कि चैक अभियुक्त के हस्तलेख में था और अगले ही क्षण पूर्णतया विपरीत आधार अपनाया कि चैक अभियुक्त के हस्तलेख में नहीं था और इसे स्वयं परिवादी द्वारा लिखा गया था और यह भी दोहराया कि शब्दों में रकम उसके द्वारा लिखी गई थी । हमारा यह निष्कर्ष है कि उच्च न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी के साक्ष्य में की विभिन्न कमियों, जोकि विचारण न्यायालय द्वारा पाई गई हैं, और जिनका हमने निर्णय के पैरा 7 में उल्लेख किया है, की कोई वैध कारण दिए बिना उपेक्षा की गई है । परिवादी के साक्ष्य में की ऐसी गंभीर खामी, जो धारा 138 के अधीन परिवाद की तह तक जाती है और जिसका विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा उल्लेख किया गया है, और उच्च न्यायालय द्वारा विचारण न्यायालय के निर्णय को उलटते हुए इस बात की परीक्षा करने में असफल रहने से उसके द्वारा निकाला गया अंतिम निष्कर्ष दूषित हो जाता है । परिणामतः, उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश का निष्कर्ष एक अनुचित निष्कर्ष की कोटि में आता है और इसलिए उच्च न्यायालय का उक्त निर्णय कायम नहीं रखा जा सकता है ।

11. हमारे उपरोक्त निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए यह अपील मंजूर की जाती है । आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है और अपीलार्थी पर अधिरोपित दोषसिद्धि और दंडादेश भी अपास्त किए जाते हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2014] 1 उम. नि. प. 432

फखरुज़म्मा

बनाम

झारखंड राज्य और एक अन्य

12 दिसम्बर, 2013

न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् और न्यायमूर्ति ए. के. सिकरी

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 197 [सपठित झारखंड पुलिस मैनुअल का नियम 825] – लोक सेवकों का अभियोजन – सरकार की पूर्व मंजूरी – जब किसी लोक सेवक को अभियोजन चलाने से पूर्व सक्षम प्राधिकारी द्वारा विहित प्रक्रिया का पालन करते हुए सेवा से हटा दिया गया हो, तो अभियोजन चलाने के लिए सरकार की पूर्व मंजूरी आवश्यक नहीं होगी, भले ही अभिकथित अपराध उसके द्वारा अपने पदीय कर्तव्य का निर्वहन करते हुए कारित किया गया हो ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थी-पुलिस उप-निरीक्षक ने एक सत्यम मिर्जा (जिसकी मृत्यु हो चुकी है) नामक व्यक्ति को भारतीय दंड संहिता की धारा 376(छ) और 302 के अधीन अपराधों के लिए गिरफ्तार किया था । मृतक की निशानदेही पर देसी कट्टे की तलाश के बाद घटनास्थल से लौटते समय मृतक चलते हुए पुलिस यान से बाहर कूद गया और अंधेरी रात में एक घने जंगल में लापता हो गया और उसे ढूंढा नहीं जा सका । बाद में वह गहन जंगल में मृत पाया गया । मृतक की पत्नी ने यह कथन करते हुए पुलिस के विरुद्ध एक परिवाद फाइल किया कि मृतक की मृत्यु पुलिस अभिरक्षा के दौरान हुई थी और संबंधित पदधारियों के

विरुद्ध समुचित कार्रवाई की जाए । विद्वान् उप मण्डल न्यायिक मजिस्ट्रेट ने उस परिवाद पर संज्ञान लिया और अपीलार्थी के विरुद्ध मामला दर्ज करने का आदेश दिया । अपीलार्थी द्वारा इस आदेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में दांडिक प्रकीर्ण याचिका फाइल करके यह कथन करते हुए चुनौती दी गई कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के उपबंधों के अनुसार विद्वान् मजिस्ट्रेट राज्य सरकार की पूर्व मंजूरी के अभाव में अपीलार्थी, जो कि पुलिस उप-निरीक्षक है और चूंकि अभिकथित कृत्य अपने पदीय कर्तव्य का निर्वहन करते हुए कारित किया गया था, के विरुद्ध अपराधों का संज्ञान नहीं ले सकता था । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए याचिका को नामंजूर कर दिया कि चूंकि सक्षम प्राधिकारी ने अपीलार्थी को सेवा से हटा दिया था, इसलिए अभियोजित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन मंजूरी आवश्यक नहीं थी । अपीलार्थी ने इससे व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – केवल ऐसे लोक सेवकों को अभियोजित करने के लिए पूर्व मंजूरी अपेक्षित है, जिन्हें सरकार की मंजूरी से हटाया जा सकता हो । झारखंड पुलिस मैनुअल के नियम 824 में पुलिस निरीक्षक रैंक तक के पुलिस अधिकारियों पर अधिरोपित की जाने वाली विभिन्न विभागीय शास्तियां, जिनमें पदच्युति और हटाने की शास्ति सम्मिलित हैं, विहित की गई हैं । नियम 825, खंड (क) और (ख) में पुलिस महा-निरीक्षक या पुलिस उप महा-निरीक्षक को निरीक्षक के रैंक तक के अधिकारियों को हटाने के आदेश पारित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है । हटाने का आदेश पारित करने से पूर्व, पुलिस महा-निरीक्षक या पुलिस उप महा-निरीक्षक को राज्य सरकार की पूर्विक मंजूरी अभिप्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है । (पैरा 7 और 8)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1964]	[1964] 3 एस. सी. आर. 67 = ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 269 : **नागराज** बनाम **मैसूर राज्य** ।	5

निर्दिष्ट निर्णय

[2006] (2006) 4 एस. सी. सी. 584 :
शंकरन् मोईत्रा बनाम **साधना दास और एक अन्य** ; 4

[2006] (2006) 1 एस. सी. सी. 557 :
राकेश कुमार मिश्रा बनाम **बिहार राज्य और अन्य** । 4

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 2086.

2006 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 1669 में रांची स्थित झारखंड उच्च न्यायालय के तारीख 9 सितम्बर, 2011 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री एस. के. कटरियार, मनोज के. श्रीवास्तव और रामेश्वर प्रसाद गोयल

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री जयेश गौरव, अनिल के. झा, (श्रीमती) प्रियंका त्यागी और मिथिलेश कुमार सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति के. एस. राधाकृष्णन् ने दिया ।

न्या. राधाकृष्णन्– इजाजत दी जाती है ।

2. इस मामले में विचार के लिए जो प्रश्न उद्भूत हुआ है, यह है कि क्या अपीलार्थी को अभियोजित करने से पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन राज्य सरकार की मंजूरी आवश्यक है, यद्यपि उसे झारखंड पुलिस मैनुअल में अधिकथित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए सेवा से हटाया गया था ।

3. उप-खंड न्यायिक मजिस्ट्रेट, गिरिडिह ने 2003 के परिवाद मामला सं. 281, 2006 का टी. आर. सं. 835, में अपीलार्थी के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 456, 323, 504, 506, 342, 386, 201, 120-ख और 304 के अधीन विभिन्न अपराधों के लिए संज्ञान लिया । अपीलार्थी द्वारा इस आदेश को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में 2006 की दांडिक प्रकीर्ण याचिका सं. 1669 फाइल करके यह कथन करते हुए चुनौती दी गई कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के उपबंधों के अनुसार विद्वान् मजिस्ट्रेट राज्य सरकार की पूर्व मंजूरी के

अभाव में अपीलार्थी, जो कि पुलिस उप-निरीक्षक था और चूंकि अभिकथित कृत्य अपने पदीय कर्तव्य का निर्वहन करते हुए कारित किया गया था, के विरुद्ध अपराधों का संज्ञान नहीं ले सकता था । उच्च न्यायालय ने इस दलील को यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दिया कि चूंकि सक्षम प्राधिकारी ने अपीलार्थी को सेवा से हटा दिया था, इसलिए अभियोजित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन मंजूरी आवश्यक नहीं थी । इससे व्यथित होकर यह अपील फाइल की गई है ।

4. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले ज्येष्ठ काउंसेल श्री एस. के. कटरियार ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करके गलती की है कि अपीलार्थी को अभियोजित करने से पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197(1) के अधीन कोई मंजूरी आवश्यक नहीं थी । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह दलील दी कि उच्च न्यायालय **शंकरन् मोईत्रा** बनाम **साधना दास और एक अन्य**[1] और **राकेश कुमार मिश्रा** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[2] वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विनिश्चयाधार का मूल्यांकन करने में असफल रहा और गलत रूप से यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी को अभियोजित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन कोई मंजूरी अनुध्यात नहीं थी ।

5. दूसरी ओर, प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री जयेश गौरव ने यह दलील दी कि अपीलार्थी पुलिस उप-निरीक्षक है और इसलिए झारखंड पुलिस मैनुअल द्वारा शासित है और उसे सेवा से पुलिस महा-निरीक्षक या पुलिस उप महा-निरीक्षक द्वारा हटाया जा सकता है और किसी उप-निरीक्षक को सेवा से हटाने के लिए राज्य सरकार का अनुमोदन/मंजूरी आवश्यक नहीं है और इसलिए अपीलार्थी के मामले में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 लागू नहीं होगी । विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी कि इस मामले में उठाया गया मुद्दा **नागराज** बनाम **मैसूर राज्य**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय द्वारा आच्छादित होता है ।

6. अपीलार्थी का पक्षकथन यह है कि उसने एक सत्यम मिर्जा (जिसकी मृत्यु हो चुकी है) नामक व्यक्ति को भारतीय दंड संहिता की धारा

---

[1] (2006) 4 एस. सी. सी. 584.

[2] (2006) 1 एस. सी. सी. 557.

[3] [1964] 3 एस. सी. आर. 67 = ए. आई. आर. 1964 एस. सी. 269.

376(छ) और 302 के अधीन अपराधों के लिए गिरफ्तार किया था । मामला पुलिस थाना, गंडे में दर्ज किया गया था, जहां अपीलार्थी कार्यालय भारसाधक के रूप में स्थानापन्न था । अपीलार्थी के अनुसार, मृतक की निशानदेही पर देसी कट्टे की तलाश के बाद घटनास्थल से लौटते समय मृतक चलते हुए पुलिस यान टाटा 407 से बाहर कूद गया और अंधेरी रात में एक घने जंगल में लापता हो गया और उसे ढूंढा नहीं जा सका । बाद में तारीख 13 जनवरी, 2003 को वह गहन जंगल में मृत पाया गया । मृतक सत्यम मिर्जा की पत्नी ने यह कथन करते हुए पुलिस के विरुद्ध एक परिवाद फाइल किया कि मृतक की मृत्यु पुलिस अभिरक्षा के दौरान हुई थी और संबंधित पदधारियों के विरुद्ध समुचित कार्रवाई की जाए । विद्वान् उप मण्डल न्यायिक मजिस्ट्रेट ने तारीख 4 जुलाई, 2006 को उस परिवाद पर संज्ञान लिया और अपीलार्थी के विरुद्ध मामला दर्ज किया गया । जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है, अपीलार्थी ने उस परिवाद को इस आधार पर अभिखंडित करने के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन किया कि विद्वान् मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान लेने से पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन कोई मंजूरी अभिप्राप्त नहीं की गई थी । झारखंड पुलिस मैनुअल को ध्यान में रखते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की परीक्षा की जानी चाहिए । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 सुगम निर्देश के लिए इसमें नीचे उद्धृत की जाती है :–

> "**197. न्यायाधीशों और लोक सेवकों का अभियोजन –** (1) जब किसी व्यक्ति पर, जो न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट या ऐसा लोक सेवक है या था जिसे सरकार द्वारा या उसकी मंजूरी से ही उसके पद से हटाया जा सकता है, अन्यथा नहीं, किसी ऐसे अपराध का अभियोग है जिसके बारे में यह अभिकथित है कि वह उसके द्वारा तब किया गया था जब वह अपने पदीय कर्तव्य के निर्वहन में कार्य कर रहा था या जब उसका ऐसे कार्य करना तात्पर्यित था, तब कोई भी न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान –
>
> (क) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो संघ के कार्यकलाप के संबंध में, यथास्थिति, नियोजित है या अभिकथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था, केंद्रीय सरकार की ;
>
> (ख) ऐसे व्यक्ति की दशा में, जो किसी राज्य के कार्यकलाप के संबंध में, यथास्थिति, नियोजित है या अभिकथित अपराध के किए जाने के समय नियोजित था, उस राज्य सरकार की, पूर्व मंजूरी से ही करेगा, अन्यथा नहीं :

परंतु जहां अभिकथित अपराध खंड (ख) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति द्वारा उस अवधि के दौरान किया गया था जब राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 के खंड (1) के अधीन की गई उद्घोषणा प्रवृत्त थी, वहां खंड (ख) इस प्रकार लागू होगा मानो उसमें आने वाले ''राज्य सरकार'' पद के स्थान पर ''केंद्रीय सरकार'' पद रख दिया गया है ।

(2) कोई भी न्यायालय संघ के सशस्त्र बल के किसी सदस्य द्वारा किए गए किसी अपराध का संज्ञान, जिसके बारे में यह अभिकथित है कि वह उसके द्वारा तब किया गया था, जब वह अपने पदीय कर्तव्य के निर्वहन में कार्य कर रहा था या जब उसका ऐसे कार्य करना तात्पर्यित था, केंद्रीय सरकार की पूर्व मंजूरी से ही करेगा, अन्यथा नहीं ।

(3) राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकती है कि उसमें यथाविनिर्दिष्ट बल के ऐसे वर्ग या प्रवर्ग के सदस्यों को जिन्हें लोक व्यवस्था बनाए रखने का कार्यभार सौंपा गया है, जहां कहीं भी वे सेवा कर रहे हों, उपधारा (2) के उपबंध लागू होंगे और तब उस उपधारा के उपबंध इस प्रकार लागू होंगे मानो उसमें आने वाले ''केंद्रीय सरकार'' पद के स्थान पर ''राज्य सरकार'' पद रख दिया गया है ।

(3क) उपधारा (3) में किसी बात के होते हुए भी कोई भी न्यायालय ऐसे बलों के किसी सदस्य द्वारा, जिसे राज्य में लोक व्यवस्था बनाए रखने का कार्यभार सौंपा गया है, किए गए किसी ऐसे अपराध का संज्ञान, जिसके बारे में यह अभिकथित है कि वह उसके द्वारा तब किया गया था जब वह, उस राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 के खंड (1) के अधीन की गई उद्घोषणा के प्रवृत्त रहने के दौरान, अपने पदीय कर्तव्य के निर्वहन में कार्य कर रहा था या जब उसका ऐसे कार्य करना तात्पर्यित था, केंद्रीय सरकार की पूर्व मंजूरी से ही करेगा, अन्यथा नहीं ।

(3ख) इस संहिता में या किसी अन्य विधि में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी, यह घोषित किया जाता है कि 20 अगस्त, 1991 को प्रारंभ होने वाली और दंड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1991 (1991 का 43), पर राष्ट्रपति जिस तारीख को

अनुमति देते हैं उस तारीख की ठीक पूर्ववर्ती तारीख को समाप्त होने वाली अवधि के दौरान ऐसे किसी अपराध के संबंध में जिसका उस अवधि के दौरान किया जाना अभिकथित है जब संविधान के अनुच्छेद 356 के खंड (1) के अधीन की गई उद्घोषणा राज्य में प्रवृत्त थी, राज्य सरकार द्वारा दी गई कोई मंजूरी या ऐसी मंजूरी पर किसी न्यायालय द्वारा किया गया कोई संज्ञान अविधिमान्य होगा और ऐसे विषय में केंद्रीय सरकार मंजूरी प्रदान करने के लिए सक्षम होगी तथा न्यायालय उसका संज्ञान करने के लिए सक्षम होगा ।

(4) यथास्थिति, केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार उस व्यक्ति का जिसके द्वारा और उस रीति का जिससे वह अपराध या वे अपराध, जिसके या जिनके लिए ऐसे न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट या लोक सेवक का अभियोजन किया जाना है, अवधारण कर सकती है और वह न्यायालय विनिर्दिष्ट कर सकती है जिसके समक्ष विचारण किया जाना है ।"

7. ऊपर-उल्लिखित उपबंध से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि केवल ऐसे लोक सेवकों को अभियोजित करने के लिए पूर्व मंजूरी अपेक्षित है, जिन्हें सरकार की मंजूरी से हटाया जा सकता हो । झारखंड पुलिस मैनुअल के नियम 824 में पुलिस निरीक्षक रैंक तक के पुलिस अधिकारियों पर अधिरोपित की जाने वाली विभिन्न विभागीय शास्तियां, जिनमें पदच्युति और हटाने की शास्ति सम्मिलित हैं, विहित की गई हैं । हमारे प्रयोजन के लिए सुसंगत नियम, नियम 825 है, जिसे नीचे दिया जाता है :–

"**825. शास्ति अधिरोपित करने के लिए सशक्त अधिकारी –** (क) कोई पुलिस अधिकारी ऐसे प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पदच्युत या अनिवार्य सेवानिवृत्त नहीं किया जाएगा, जिसने उसे नियुक्त किया है ।

(ख) महा-निरीक्षक उप अधीक्षक के रैंक से अवर किसी पुलिस अधिकारी को नियम 825 में उल्लिखित शास्तियों में से कोई या अधिक शास्ति दे सकेगा ।

(ग) * * *

(घ) कोई अधीक्षक अपने से अधीनस्थ किसी पुलिस अधिकारी और उप-निरीक्षक के रैंक से अवर अधिकारी पर नियम 824 में

उल्लिखित शास्तियों में से कोई या अधिक शास्ति, उप-निरीक्षक या सहायक उप-निरीक्षक के मामले में पदच्युति, हटाने और अनिवार्य सेवानिवृत्ति के सिवाय, अधिरोपित कर सकेगा । यह बात ध्यान में रखी जाएगी कि यदि जिला मजिस्ट्रेट द्वारा कोई जांच आरंभ की गई है, तो उसे परिणाम की रिपोर्ट सूचना के लिए भेजी जाएगी । यदि अपेक्षित हो, विभागीय कार्यवाही की फाइल भी इसके साथ भेजी जाएगी ।

(ङ) * * *

(च) * * *"

8. नियम 825, खंड (क) और (ख) में पुलिस महा-निरीक्षक या पुलिस उप महा-निरीक्षक को निरीक्षक के रैंक तक के अधिकारियों को हटाने के आदेश पारित करने की शक्ति प्रदत्त की गई है । हटाने का आदेश पारित करने से पूर्व, पुलिस महा-निरीक्षक या पुलिस उप महा-निरीक्षक को राज्य सरकार की पूर्विक मंजूरी अभिप्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है । **नागराज** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के समक्ष एक इसी प्रकार का मुद्दा विचार के लिए आया था, जिसमें इस न्यायालय को मैसूर पुलिस अधिनियम, 1908 की धारा 4(ग), 8, 26(1) और 3 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की व्याप्ति की परीक्षा करनी थी । ऊपरवर्णित उपबंधों का निर्वचन करते हुए इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि पुलिस महा-निरीक्षक किसी उप-निरीक्षक को पदच्युत कर सकता है और इसलिए अपीलार्थी को अभियोजित करने के लिए राज्य सरकार की कोई मंजूरी आवश्यक नहीं थी, भले ही उसने अभिकथित अपराध अपने पदीय कर्तव्य के निर्वहन में या पदीय कर्तव्य का तात्पर्य रखने वाला कार्य करते हुए कारित किया था ।

9. अपीलार्थी द्वारा निर्दिष्ट किया गया निर्णय, अर्थात् **राकेश कुमार मिश्रा** (उपरोक्त) वाला मामला, प्रस्तुत मामले में लागू नहीं होता है । हमारे मत में, उठाया गया प्रश्न सीधे तौर पर **नागराज** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय के अंतर्गत आता है और उच्च न्यायालय ने झारखंड पुलिस मैनुअल के उपबंधों का निर्वचन करते हुए उस मामले में अधिकथित विनिश्चयाधार को लागू करके ठीक किया है और हम पूरी तरह से उच्च न्यायालय के मत से सहमत हैं ।

10. इन परिस्थितियों में, हम इस अपील में कोई सार नहीं पाते हैं और यह खारिज की जाती है ।

अपील खारिज की गई ।

जस.

[2014] 1 उम. नि. प. 440

शेरिश हरदेनिया और अन्य

बनाम

मध्य प्रदेश राज्य और एक अन्य

13 दिसंबर, 2013

न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर और न्यायमूर्ति विक्रमजीत सेन

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 498-क और धारा 306 – क्रूरता – आत्महत्या का दुष्प्रेरण – पति द्वारा दहेज की मांग – परिवार के चार अन्य सदस्यों का भी आरोपित किया जाना – अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री का पर्याप्त होना – यदि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री से अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है तब ऐसी स्थिति में उन्हें उन्मोचित नहीं किया जा सकता और उनका विचारण किया जाना न्यायोचित होगा ।

इस मामले में मृतका का विवाह अभियुक्त अपीलार्थी के साथ हुआ था । विवाह के पश्चात् उसके पति और उसके ससुराल वालों द्वारा उसे तंग किया गया और इसके परिणामस्वरूप उसने आत्महत्या कर ली । मृतका के पति, सास-श्वसुर, देवर और देवरानी को अभियुक्त बनाया गया किंतु विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने अभियुक्त पति को छोड़कर सभी अभियुक्तों को, आरोप विरचित किए जाने के प्रक्रम पर ही उन्मोचित कर दिया । विद्वान् विचारण न्यायाधीश के इस आदेश से व्यथित होकर मृतका के पिता ने माननीय उच्च न्यायालय, मध्य प्रदेश के समक्ष अपील फाइल की, साथ ही अभियुक्त-पति ने भी आरोप विरचित किए जाने के आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने देवरानी को छोड़कर सभी अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या

अभिलेख पर अपराध में फंसाने वाला साक्ष्य पाया और उनके द्वारा फाइल की गई अपीलें खारिज कर दीं । शेष चारों अभियुक्तों ने उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अमरीश का अर्चना के साथ विवाह तारीख 19 नवंबर, 1995 को हुआ था और इस विवाह में शीघ्र ही विवाद पैदा हो गए, अभिकथित रूप से दहेज की मांग की गई जिसके संबंध में साक्ष्य उस समय मृतका द्वारा अपने माता-पिता को लिखे गए पत्रों से प्राप्त होता है । ऐसी परिस्थितियों में जब यह प्रकथन किया गया हो कि दहेज की मांग विवाह के एक वर्ष के भीतर ही कर दी गई थी तब यह नहीं कहा जा सकता है कि विवाह के दौरान दहेज की आगे और मांग नहीं की जाएगी । निःसंदेह पति के विचार में परिवर्तन आना सैद्धांतिक रूप से संभव है और न्यायालय ने यह प्रत्याशा की है कि इस संबंध में दिए गए साक्ष्य से प्रारंभिक मांग की विश्वसनीयता कम हो जाएगी और यह मांग लिखित दस्तावेज के रूप में है और/या और ऐसी मांग का दोबारा किया जाना अविश्वसनीय हो सकता है । यद्यपि यह कोई कड़ा नियम नहीं है कि पति द्वारा की गई दहेज की मांग दृढ़ रूप से उसके माता-पिता की इच्छा द्वारा प्रोन्नत और प्रोत्साहित की जाएगी । इन संप्रेक्षणों में न्यायालय का यह उपदर्शित करना गलत नहीं होगा कि न्यायालय ने अभियुक्त अमरीश उसके माता-पिता अर्थात् श्री लज्जाशंकर और श्रीमती मीरा की अपराधिता के संबंध में प्रतिकूल राय व्यक्त की है । तथापि, न्यायाधीश दहेज के संबंध में अपमानजनक और विपत्तिमय वास्तविकता को अनदेखा नहीं कर सकते जो कि हमारे समाज के कुछ भागों में प्रचलित है । न्यायालय का यह निष्कर्ष है कि घोर अनियमितता यह हुई है कि यह सामाजिक बुराई सभी धार्मिक संप्रदायों में है । दहेज की मांग एक सामाजिक अभिशाप है जिस पर दृढ़तापूर्वक कार्यवाही करनी चाहिए । जहां तक अभियोजन पक्ष का संबंध है, अभियोजन ने यह राय व्यक्त की है कि पति अमरीश, उसके माता-पिता तथा भाई के विरुद्ध विचारणीय मामला सिद्ध हो गया है । अभियोजन पक्ष ने उसके भाई की पत्नी के विरुद्ध भी मामला बनाया है जो इस अभागे विवाह के पांच वर्ष के पश्चात् और लगभग अर्चना की दुखांत आत्महत्या के दो वर्ष पूर्व उनके परिवार में आई थी । अतः इस प्रक्रम पर पति/विधुर अमरीश को छोड़कर चारों अभियुक्तों को उन्मोचित करने में सेशन न्यायाधीश ने आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकाला है कि न्यायालय के

समक्ष उपलब्ध सामग्री पर विचार करने पर ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं देती है कि इन अभियुक्तों को दोषसिद्ध किया जा सके, इन्हें बिल्कुल भी दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता है, इनके विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या भी मामला नहीं बनता है । यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या आरोप पत्र अभिखंडित किए जाने का मामला है या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन किसी पक्षकार को समन किए जाने का मामला है, इस संबंध में इस न्यायालय ने निरंतर रूप से यह राय व्यक्त की है कि न्यायाधीश को इस पर विचार करना चाहिए कि प्राप्त की गई सामग्री और साक्ष्य से केवल प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है या नहीं । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या आरोप पत्र को अभिखंडित करने या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन किसी पर-व्यक्ति को समन न किए जाने में न्यायाधीश तभी न्यायोचित होगा जब प्रथमदृष्ट्या मामला भी न बनता हो । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने, जैसाकि न्यायालय ने पहले ही ऊपर विचार किया है, व्यापकार्थक और स्पष्ट रूप से निर्णय विधि का विश्लेषण किया है और साक्ष्य का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि विचारण बनाए रखने अर्थात् सेशन न्यायाधीश के मत को उलटने के प्रक्रम पर इस आधार पर पर्याप्त सामग्री उलब्ध है । एकल न्यायाधीश ने यह ठीक ही किया है कि अभियुक्त संगीता के संबंध में अपर्याप्त सामग्री थी जैसाकि सेशन न्यायाधीश द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है । विवाह के पश्चात् सात वर्ष का समय बीत गया था और उसके बाद ही अर्चना ने आत्महत्या की, इस तथ्य पर निरंतर तर्क दिए जा रहे हैं । यह ठीक ही पाया गया है कि इससे किसी अभियुक्त का विचारण दूषित नहीं होगा सिवाय संहिता के । अब यह कहने से कोई लाभ नहीं होगा कि दंड संहिता की धारा 498-क के साथ पठित धारा 306 के अधीन संभवतः कोई भी अपराध नहीं बनता है जबकि विवाह हुए सात वर्ष का समय बीत गया हो ; यह मात्र कानूनी उपधारणा है जो समाप्त हो गई है, इस कारण सबूत का भार अभियुक्त से हटकर अभियोजन पक्ष पर आ जाता है । यह प्रतिवाद करना पूर्णतया अतार्किक होगा कि विधि के अधीन यह प्रत्याशा की जाती है कि दहेज की पहली मांग करते ही दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन अभियोजन आरंभ कर दिया जाए । भारतीय मुहावरे में प्रायः यह कहा जाता है कि कन्या का विवाह हो जाने के पश्चात् वह अपने माता-पिता के परिवार का सदस्य नहीं रह जाती और केवल उसका शव ही उनके पास वापस जाता है, वास्तविकता यह है कि जब यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह अशुद्ध रूप से असाध्य हो गया है तब ही पत्नी और उसके परिवार के सदस्य दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन

कार्यवाहियां आरंभ करते हैं । इस स्थिति के आने के पूर्व तक वधू, यह जानकर कि कार्यवाही करने तथा पुलिस थाने जाने से विवाह की बदनामी होगी और वह आपदग्रस्त हो जाएगा, दुर्व्यवहार और तानाकशी सहन करती रही । न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि अनाचार स्वयं व्यापक रूप से प्रकट हो रहा है कि वकील दृढ़ रूप से दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन तंग करने की दृष्टि से कार्यवाहियां चलाने की राय देते हैं तथापि, न्यायालय इस बुराई से अवगत हैं जोकि अन्यथा हितकारी उपबंध है । अतः परिसीमा के आधार पर किए गए अभिवाकों पर विचार कड़ी सूक्ष्मता से किया जाना चाहिए । इस संबंध में अगस्त, 2003 में मृतका अर्चना के साथ की गई बातचीत के संबंध में सुश्री शीतल भंडारी के कथन पर विचारण न्यायालय द्वारा सुनिश्चित रूप से विचार किया गया होगा । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित करने में सेशन न्यायाधीश के विनिश्चय का ठीक ही समर्थन किया है कि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री क्रूरता और आत्महत्या का दुष्प्रेरण किए जाने के अभिकथित अपराध में अभियुक्त संगीता की अपराधिता को प्रथमदृष्ट्या रूप से उपदर्शित करने में अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है । न्यायालय आक्षेपित निर्णय में निकाले गए निष्कर्ष से इस संबंध में पूर्णतया सहमत है कि लज्जाशंकर, मीरा और शेरिश का प्रथमदृष्ट्या विचारण किया जाना न्यायोचित है और इनके विरुद्ध मामला सिद्ध हो गया है और यह कि सेशन न्यायाधीश ने इन तीनों व्यक्तियों को उन्मोचित करके गलती की है । (पैरा 2, 3, 4, 5 और 7)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2010]	(2010) 1 एस. सी. सी. 250 = ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 518 : **सुमन** बनाम **राजस्थान राज्य** ;	3
[2000]	(2000) 3 एस. सी. सी. 262 : **माइकल मकार्डो** बनाम **केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो** ;	3
[1996]	ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 1744 = (1996) 4 एस. सी. सी. 659 : **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **सोमनाथ थापा** ;	3

[1992]	(1992) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 335 : **हरियाणा राज्य** बनाम **भजन लाल** ;	3
[1989]	(1989) 1 एस. सी. सी. 715 : **स्त्री अत्याचार विरोधी परिषद्** बनाम **दिलीप नाथूमल चोर्डिया** ;	3
[1979]	(1979) 3 एस. सी. सी. 4 : **भारत संघ** बनाम **प्रफुल्ल कुमार सामल** ;	3
[1977]	ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 2013 = (1977) 4 एस. सी. सी. 39 : **बिहार राज्य** बनाम **रमेश सिंह** ;	3
[1977]	ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 1489 = (1977) 2 एस. सी. सी. 699 : **कर्नाटक राज्य** बनाम **एल. मुनिस्वामी** ;	6
[1972]	ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 545 = (1972) 3 एस. सी. सी. 282 : **सैनचुरी स्पिनिंग एंड मेन्युफेक्चरिंग कंपनी लिमिटेड** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	6
[1938]	ए. आई. आर. 1938 नागपुर 394 : **शिवप्रसाद रामजस अग्रवाल** बनाम **सम्राट** ।	6

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2013 की दांडिक अपील सं. 2087.

2004 की दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1400 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर के तारीख 6 मई, 2008 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री आर. पी. गुप्ता (वरिष्ठ अधिवक्ता), (सुश्री) मेघा गौड़ और परमानंद गौड़, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री (सुश्री) विभा दत्त मखीजा (वरिष्ठ अधिवक्ता), मिश्रा सौरभ, सी. डी. सिंह, संतोष कुमार, वी. सुशांत गुप्ता और मुश्ताक अहमद

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति विक्रमजीत सेन ने दिया ।

न्या. सेन – इजाजत प्रदान की जाती है । ये अपीलें 2004 के दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1400 और 1445 में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर के विद्वान् एकल न्यायाधीश के उस निर्णय को चुनौती दी गई है जो तारीख 6 मई, 2008 को पारित किया गया था । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने दोनों पुनरीक्षण याचिकाएं 2004 के सेशन विचारण मामला सं. 83 में प्रथम अपर सेशन न्यायाधीश, भोपाल द्वारा पारित किए गए तारीख 26 अगस्त, 2004 के आदेश के विरुद्ध विनिश्चित की हैं । अमरीश हरदेनिया अर्थात् दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1445/2005 में के याची को भारतीय दंड संहिता, 1860 (संक्षेप में "दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 498-क और 306 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए आरोपित किया गया । चार अन्य अभियुक्त अर्थात् उसके माता-पिता (श्री लज्जाशंकर और श्रीमती मीरा), उसका भाई श्री शेरिश हरदेनिया और भाभी श्रीमती संगीता को भी इसी प्रकार अभियोजन पक्ष द्वारा आरोपित किया गया है । तथापि, प्रथम अपर सेशन न्यायाधीश ने इस मत का समर्थन किया कि कोई भी मामला इन चारों व्यक्तियों के विरुद्ध विचारण के लिए नहीं बनता है, अतः उन्हें उन्मोचित कर दिया गया । अर्चना हरदेनिया के पति अमरीश हरदेनिया के विरुद्ध कार्रवाहियां चलते रहने का आदेश किया गया । इन परिस्थितियों में, मृतका के पिता डा. आर. के. शर्मा ने 2004 की दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1400, उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की जिसमें सेशन न्यायाधीश के उक्त आदेश के विधिक औचित्य को चुनौती दी जिसके द्वारा सेशन न्यायाधीश ने उसकी मृतका पुत्री के सास-श्वसुर, देवर और देवरानी को आरोपों से उन्मोचित कर दिया था । मृतका अर्चना (जो डा. आर. के. शर्मा की पुत्री थी) के विधुर अमरीश हरदेनिया ने 2004 की दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 1445 फाइल की जिसमें यह प्रकथन किया कि किसी के भी विरुद्ध कोई भी मामला विचारण के लिए नहीं बनता है । हमें यह स्वीकार करना होगा कि आक्षेपित आदेश के अंतर्गत व्यापकार्थक रूप से क्रमबद्ध तथ्यों और संविवाद को लागू विधि को स्पष्ट किया गया है ।

2. अमरीश का अर्चना के साथ विवाह तारीख 19 नवंबर, 1995 को हुआ था और इस विवाह में शीघ्र ही विवाद पैदा हो गए, अभिकथित रूप से दहेज की मांग की गई जिसके संबंध में साक्ष्य उस समय मृतका द्वारा अपने माता-पिता को लिखे गए पत्रों से प्राप्त होता है । ऐसी परिस्थितियों

में जब यह प्रकथन किया गया हो कि दहेज की मांग विवाह के एक वर्ष के भीतर ही कर दी गई थी तब यह नहीं कहा जा सकता है कि विवाह के दौरान दहेज की आगे और मांग नहीं की जाएगी । निःसंदेह पति के विचार में परिवर्तन आना सैद्धांतिक रूप से संभव है और हम यह प्रत्याशा करते हैं कि इस संबंध में दिए गए साक्ष्य से प्रारंभिक मांग की विश्वसनीयता कम हो जाएगी और यह मांग लिखित दस्तावेज के रूप में है और/या और ऐसी मांग का दोबारा किया जाना अविश्वसनीय हो सकता है । यद्यपि यह कोई कड़ा नियम नहीं है कि पति द्वारा की गई दहेज की मांग दृढ़ रूप से उसके माता-पिता की इच्छा द्वारा प्रोन्नत और प्रोत्साहित की जाएगी । इन संप्रेक्षणों में हमारा यह उपदर्शित करना गलत नहीं होगा कि हमने अभियुक्त अमरीश उसके माता-पिता अर्थात् श्री लज्जाशंकर और श्रीमती मीरा की अपराधिता के संबंध में प्रतिकूल राय व्यक्त की है । तथापि, न्यायाधीश दहेज के संबंध में अपमानजनक और विपत्तिमय वास्तविकता को अनदेखा नहीं कर सकते जो कि हमारे समाज के कुछ भागों में प्रचलित है । हमारा यह निष्कर्ष है कि घोर अनियमितता यह हुई है कि यह सामाजिक बुराई सभी धार्मिक संप्रदायों में है । दहेज की मांग एक सामाजिक अभिशाप है जिस पर दृढ़तापूर्वक कार्यवाही करनी चाहिए ।

3. जहां तक अभियोजन पक्ष का संबंध है, अभियोजन ने यह राय व्यक्त की है कि पति अमरीश, उसके माता-पिता तथा भाई के विरुद्ध विचारणीय मामला सिद्ध हो गया है । अभियोजन पक्ष ने उसके भाई की पत्नी के विरुद्ध भी मामला बनाया है जो इस अभागे विवाह के पांच वर्ष के पश्चात् और लगभग अर्चना की दुखांत आत्महत्या के दो वर्ष पूर्व उनके परिवार में आई थी । अतः इस प्रक्रम पर पति/विधुर अमरीश को छोड़कर चारों अभियुक्तों को उन्मोचित करने में सेशन न्यायाधीश ने आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकाला है कि न्यायालय के समक्ष उपलब्ध सामग्री पर विचार करने पर ऐसी कोई संभावना दिखाई नहीं देती है कि इन अभियुक्तों को दोषसिद्ध किया जा सके, इन्हें बिल्कुल भी दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता है, इनके विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या भी मामला नहीं बनता है । **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **सोमनाथ थापा**[1], **बिहार राज्य** बनाम **रमेश सिंह**[2], **भारत संघ** बनाम **प्रफुल्ल कुमार सामल**[3] और **स्त्री अत्याचार विरोधी परिषद्** बनाम

---

[1] ए. आई. आर. 1996 एस. सी. 1744 = (1996) 4 एस. सी. सी. 659.

[2] ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 2013 = (1977) 4 एस. सी. सी. 39.

[3] (1979) 3 एस. सी. सी. 4.

दिलीप नाथूमल चोर्डिया[1] वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चयों से असहमत नहीं हो सकते । हमारा यह विचार है कि **हरियाणा राज्य** बनाम **भजन लाल**[2] तथा **माइकल मकार्डो** बनाम **केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो**[3] और **सुमन** बनाम **राजस्थान राज्य**[4] वाले मामलों में किए गए विनिश्चय भी दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 319 के प्रतिकूल हैं । यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या आरोप पत्र अभिखंडित किए जाने का मामला है या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन किसी पक्षकार को समन किए जाने का मामला है, इस संबंध में इस न्यायालय ने निरंतर रूप से यह राय व्यक्त की है कि न्यायाधीश को इस पर विचार करना चाहिए कि प्राप्त की गई सामग्री और साक्ष्य से केवल प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है या नहीं । प्रथम इत्तिला रिपोर्ट या आरोप पत्र को अभिखंडित करने या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 319 के अधीन किसी पर-व्यक्ति को समन न किए जाने में न्यायाधीश तभी न्यायोचित होगा जब प्रथमदृष्ट्या मामला भी न बनता हो । विद्वान् एकल न्यायाधीश ने, जैसाकि हमने पहले ही ऊपर विचार किया है, व्यापकार्थक और स्पष्ट रूप से निर्णय विधि का विश्लेषण किया है और साक्ष्य का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि विचारण बनाए रखने अर्थात् सेशन न्यायाधीश के मत को उलटने के प्रक्रम पर इस आधार पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है । एकल न्यायाधीश ने यह ठीक ही किया है कि अभियुक्त संगीता के संबंध में अपर्याप्त सामग्री थी जैसाकि सेशन न्यायाधीश द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है ।

4. विवाह के पश्चात् सात वर्ष का समय बीत गया था और उसके बाद ही अर्चना ने आत्महत्या की, इस तथ्य पर निरंतर तर्क दिए जा रहे हैं । यह ठीक ही पाया गया है कि इससे किसी अभियुक्त का विचारण दूषित नहीं होगा सिवाय संहिता के । अब यह कहने से कोई लाभ नहीं होगा कि दंड संहिता की धारा 498-क के साथ पठित धारा 306 के अधीन संभवतः कोई भी अपराध नहीं बनता है जबकि विवाह हुए सात वर्ष का समय बीत गया हो ; यह मात्र कानूनी उपधारणा है जो समाप्त हो गई है, इस कारण सबूत का भार अभियुक्त से हटकर अभियोजन पक्ष पर आ जाता है ।

---

[1] (1989) 1 एस. सी. सी. 715.

[2] (1992) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 335.

[3] (2000) 3 एस. सी. सी. 262.

[4] (2010) 1 एस. सी. सी. 250 = ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 518.

5. यह प्रतिवाद करना पूर्णतया अतार्किक होगा कि विधि के अधीन यह प्रत्याशा की जाती है कि दहेज की पहली मांग करते ही दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन अभियोजन आरंभ कर दिया जाए । भारतीय मुहावरे में प्रायः यह कहा जाता है कि कन्या का विवाह हो जाने के पश्चात् वह अपने माता-पिता के परिवार का सदस्य नहीं रह जाती और केवल उसका शव ही उनके पास वापस जाता है, वास्तविकता यह है कि जब यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह अशुद्ध रूप से असाध्य हो गया है तब ही पत्नी और उसके परिवार के सदस्य दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन कार्यवाहियां आरंभ करते हैं । इस स्थिति के आने के पूर्व तक वधू, यह जानकर कि कार्यवाही करने तथा पुलिस थाने जाने से विवाह की बदनामी होगी और वह आपदग्रस्त हो जाएगा, दुर्व्यवहार और तानाकशी सहन करती रही । हमें यह भी मत व्यक्त करना होगा कि अनाचार स्वयं व्यापक रूप से प्रकट हो रहा है कि वकील दृढ़ रूप से दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन तंग करने की दृष्टि से कार्यवाहियां चलाने की राय देते हैं तथापि, न्यायालय इस बुराई से अवगत हैं जोकि अन्यथा हितकारी उपबंध है । अतः परिसीमा के आधार पर किए गए अभिवाकों पर विचार कड़ी सूक्ष्मता से किया जाना चाहिए । इस संबंध में अगस्त, 2003 में मृतका अर्चना के साथ की गई बातचीत के संबंध में सुश्री शीतल भंडारी के कथन पर विचारण न्यायालय द्वारा सुनिश्चित रूप से विचार किया गया होगा ।

6. आक्षेपित निर्णय में विद्वान् एकल न्यायाधीश ने **शिवप्रसाद रामजस अग्रवाल** बनाम **सम्राट**[1] वाले मामले में किए गए समय-सीमा से संबंधित विनिश्चय और **सैनचुरी स्पिनिंग एंड मेन्युफेक्चरिंग कंपनी लिमिटेड** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] तथा **कर्नाटक राज्य** बनाम **एल. मुनिस्वामी**[3] वाले मामलों पर विचार किया है और न्यायालय का यह समाधान हुआ है कि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री और साक्ष्य से पर्याप्त रूप से अमरीश, श्री लज्जाशंकर, श्रीमती मीरा और शेरिश के विरुद्ध विचारण का समर्थन होता है ।

7. विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित करने में सेशन न्यायाधीश के विनिश्चय का ठीक ही समर्थन किया है कि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री क्रूरता और आत्महत्या का दुष्प्रेरण किए जाने के अभिकथित अपराध में अभियुक्त संगीता की अपराधिता को प्रथमदृष्ट्या रूप

---

[1] ए. आई. आर. 1938 नागपुर 394.

[2] ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 545 = (1972) 3 एस. सी. सी. 282.

[3] ए. आई. आर. 1977 एस. सी. 1489 = (1977) 2 एस. सी. सी. 699.

से उपदर्शित करने में अभिलेख पर उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है । हम आक्षेपित निर्णय में निकाले गए निष्कर्ष से इस संबंध में पूर्णतया सहमत हैं कि लज्जाशंकर, मीरा और शेरिश का प्रथमदृष्ट्या विचारण किया जाना न्यायोचित है और इनके विरुद्ध मामला सिद्ध हो गया है और यह कि सेशन न्यायाधीश ने इन तीनों व्यक्तियों को उन्मोचित करके गलती की है ।

8. तद्नुसार, अपील निष्फल होती है और गुणता न होने के कारण खारिज की जाती है । हम अपीलार्थियों पर शिक्षात्मक रूप से खर्चा अधिरोपित कर सकते थे किंतु सेशन न्यायाधीश द्वारा पारित किए गए आदेश को आक्षेपित निर्णय द्वारा उलट दिए जाने के कारण हम यह खर्चा अधिरोपित नहीं कर रहे हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि हमने समवर्ती निष्कर्षों के प्रतिकूल निर्णय दिया होता तो हम दंड के रूप में खर्चे अधिरोपित करते ।

अपील खारिज की गई ।

अस.

[2014] 1 उम. नि. प. 449

जोशिन्द्र यादव

बनाम

बिहार राज्य

20 जनवरी, 2014

न्यायमूर्ति रंजना प्रकाश देसाई और न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 498-क, 302, 201 और 149 – विवाहित स्त्री के साथ क्रूरता – मामले की परिस्थितियों और साक्षियों के साक्ष्य से यह सिद्ध होने पर कि अपीलार्थी-अभियुक्त सहित अन्य सभी अभियुक्तों ने दहेज की मांग के लिए मृतका के साथ क्रूरता की थी और उसे तंग किया था, तब अपीलार्थी-अभियुक्त का यह अभिवाक् कि वह अन्य अभियुक्तों से अलग रह रहा था, स्वीकार नहीं किया जा सकता है और उसकी दोषसिद्धि उचित है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 और 149

[सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 106] – हत्या – शव नदी में पड़ा पाया जाना – अपीलार्थी-अभियुक्त सहित सभी अभियुक्तों द्वारा मकान खाली करके सामान सहित फरार हो जाना – चूंकि मृतका अभियुक्तों के साथ उनके मकान में रह रही थी और उसके गायब होने तथा शव नदी में पड़ा पाए जाने पर अभियुक्तों द्वारा यह सिद्ध करने के भार का निर्वहन नहीं करने पर कि उसका शव नदी के पानी में कैसे पड़ा पाया और मामले की रिपोर्ट पुलिस को क्यों नहीं की गई, उनके विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाना उचित है और उनकी दोषसिद्धि न्यायोचित है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 498-क, 302, 201 और 149 – विवाहित स्त्री के साथ क्रूरता और हत्या – अभियोजन के पक्षकथन में विष देने का अभिकथन किया जाना – मृतका के विसरा को रासायनिक परीक्षण के लिए न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला न भेजा जाना – हत्या के जिन मामलों में विष दिए जाने की आंशका हो, यह न्याय के हित में होगा कि मरणोत्तर परीक्षा के तुरंत पश्चात् विसरा को रासायनिक परीक्षण के लिए अवश्य न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाना चाहिए और दांडिक न्यायालय को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिलेख पर उपलब्ध हो ।

मामले के तथ्यों के अनुसार शिकायतकर्ता की पुत्री (मृतका) का विवाह इस मामले में अपीलार्थी के भाई अभियुक्त-1 के साथ हुआ था । विवाह में अभियुक्तों को उनकी मांग के अनुसार दहेज के रूप में कतिपय वस्तुएं दी गई थीं । तथापि, अभियुक्त इससे संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने कई और वस्तुओं की मांग की, जो उन्हें दी गईं । फिर भी उन्होंने मृतका को तंग करना और उस पर हमला करना जारी रखा । जब वह मायके आई तो उसने ससुराल में उसके साथ किए गए दुर्व्यवहार के बारे में बताया । वह वापस ससुराल नहीं जाना चाहती थी । शिकायतकर्ता ने दो कठ्ठा भूमि मृतका के नाम में अंतरित कर दी । इसके बाद वह अपनी ससुराल चली गई । अभियुक्तों ने मृतका पर इस बात के लिए जोर दिया कि वह भूमि को बेच दे । क्योंकि वह भूमि बेचने के लिए सहमत नहीं हुई, उन्होंने उसे और यातना दी । शिकायतकर्ता के अनुसार एक दिन अभियुक्त-6 उसके मकान पर आया और बताया कि मृतका घर से भाग गई है । यह साक्षी अपने पुत्र और उसके साले के साथ अभियुक्तों के मकान पर जाने के लिए रवाना हुआ । अभियुक्त-6 कुछ दूरी तक उनके साथ गया और फिर रास्ते में उनसे बिछुड़ गया । वे अभियुक्तों के गांव पहुंचे और वहां

अभियुक्तों का मकान खाली पाया । सभी अभियुक्त अपने सामान सहित मकान को छोड़कर चले गए थे । मृतका भी वहां नहीं थी । पूछने पर पड़ोसियों ने उन्हें बताया कि क्योंकि मृतका ने अभियुक्तों के नाम में भूमि अंतरित करने से इनकार कर दिया था, इसलिए उन्होंने उसे विष खिला दिया और उसकी हत्या कर दी । शिकायतकर्ता ने पुलिस से संपर्क किया और तलाश की गई । मृतका का शव नदी की सतह से बरामद किया गया । औपचारिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई और अन्वेषण आरंभ किया गया । अपीलार्थी सहित सभी अभियुक्तों ने न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण कर दिया । विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302, 498-क और धारा 201 के अधीन दोषसिद्ध और दंडादिष्ट किया । उच्च न्यायालय ने उनकी अपील खारिज कर दी । अभियुक्त-2/अपीलार्थी द्वारा विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – मृतका, बिंदुला देवी के पिता, अभि. सा. 9 देबू यादव ने अभियुक्तों द्वारा मृतका को तंग और दुर्व्यवहार करने के बारे में स्पष्ट विवरण दिया है । अभियुक्त दहेज में दी गई एक बैलगाड़ी, एक गाय और एक भैंस से प्रसन्न नहीं थे । उन्होंने एक घड़ी और एक साइकिल मांगी । ये चीचें भी दी गईं । उन्होंने और मांग की । अभि. सा. 9 देबू यादव ने दो कठ्ठा भूमि बिंदुला देवी को अंतरित कर दी । अभियुक्त इस भूमि को बेचना चाहते थे या अपने नाम में अंतरित करवाना चाहते थे और चूंकि बिंदुला देवी इसके लिए सहमत नहीं हुई, इसलिए उन्होंने उसे यातना देना जारी रखा । बिंदुला देवी के पुत्र को उसके पिता के पास भेज दिया गया ताकि वह उसका पालन-पोषण करें, किंतु बिंदुला देवी को, स्पष्ट तौर पर काम करने के लिए, ससुराल में ही रखा गया । बिंदुला देवी के भाई, अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव ने अपने पिता के कथन की संपुष्टि की है । यह दुःखद है कि सभी अन्य साक्षी अर्थात् अभि. सा. 2 से अभि. सा. 7 पक्षद्रोही हो गए । इस मामले के तथ्यों में यह बात वस्तुतः अभियुक्तों की दोषिता को इंगित करने वाली है । उन्होंने अभियोजन साक्षियों को अपने पक्ष में कर लिया । न्यायालय अभि. सा. 9 देबू यादव द्वारा अपनी प्रतिपरीक्षा में, अधिसंभाव्यतः क्रूरता के बारे में अभिसाक्ष्य देने के लिए कोई स्वतंत्र साक्षी न होने के बारे में पूछे गए प्रायिक प्रश्न के उत्तर के रूप में कहे गए निम्नलिखित वाक्यों का खेद के साथ उल्लेख करना चाहेगा । उसने कहा

कि "जब कभी मेरी पुत्री मेरे घर आती थी, वह यह शिकायत करती थी कि उसे वहां यातना दी जाती हैं और हमला किया जाता है । इस तथ्य का और कोई कौन साक्षी हो सकता है ?" अभि. सा. 9 और 10 के साक्ष्य का परिशीलन करने पर इस न्यायालय को किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है कि बिंदुला देवी के साथ अभियुक्तों द्वारा दहेज के लिए क्रूरता की गई थी और उसे तंग किया गया था । इन साक्षियों का साक्ष्य निष्कपट और सच्चा है । इसमें कोई बढ़ा-चढ़ाकर कही गई बात नहीं है । प्रतिपरीक्षा में उनके साक्ष्य में कोई कमी प्रकट नहीं हुई है । उनके साक्ष्य का निर्विवाद अवलंब लिया जा सकता है । यह दलील दी गई है कि अपीलार्थी अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव से अलग रहता था और इसलिए वह अन्य अभियुक्तों के क्रूरता के अभिकथित कृत्यों का सांझीदार नहीं हो सकता है । यह न्यायालय इस दलील में कोई सार नहीं पाता है । यद्यपि, अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव का यह कथन है कि अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव विवाह के पश्चात् अपने भाइयों से अलग हो गया था, उसने यह स्पष्ट किया है कि सभी भाइयों के एक सांझे आंगन में अपने-अपने मकान थे । अभि. सा. 9 देबू यादव ने अपीलार्थी को विनिर्दिष्ट रूप से उस व्यक्ति के रूप में नामित किया है जिसने पशुओं की मांग की थी । उसने यह कथन किया है कि अभियुक्त उसके द्वारा दिए गए पशुओं से संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने अधिक दहेज की मांग की । वे बिंदुला देवी को तंग और उस पर हमला करते रहते थे । इस साक्षी ने यह कथन किया है कि जब वह यह सूचना प्राप्त होने पर कि बिंदुला देवी अभियुक्तों के घर से चली गई है, उनके मकान पर गया तो उसने मकान खाली पाया । सभी अभियुक्त फरार हो गए थे । वे अपना सामान साथ ले गए थे । इस बात की पुष्टि अन्वेषक अधिकारी, अभि. सा. 13 सुरेन्द्र राय द्वारा की गई है । उसने यह कथन किया है कि जब वह बिंदुला देवी के गायब होने के बारे में सूचना प्राप्त होने के पश्चात् अभियुक्तों के मकान पर गया तो उसने मकान को पूरी तरह खाली पाया । यहां तक कि घरेलू सामान और अनाज भी गायब था । अभियुक्त वहां मौजूद नहीं थे । उनके परिवार का कोई भी सदस्य वहां नहीं था । बिंदुला देवी भी वहां नहीं थी । ये परिस्थितियां इस न्यायालय को इस दलील को नामंजूर करने के लिए प्रेरित करती हैं कि अपीलार्थी ने बिंदुला देवी के साथ क्रूरता करने में अन्य अभियुक्तों का साथ नहीं दिया था । इसलिए अपीलार्थी की दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 498-क के अधीन की गई दोषसिद्धि और दिया गया दंडादेश पूरी तरह से न्यायोचित है । (पैरा 8 और 9)

न्यायालय की राय में, बिंदुला देवी के पिता और भाई के साक्ष्य तथा अन्य विद्यमान परिस्थितियों, जैसे मजबूत हेतु, यह तथ्य कि अभियुक्तों ने बिंदुला देवी के गुम होने के बारे में कोई शिकायत दर्ज नहीं कराई, अभियुक्त-6 फुदई यादव बिंदुला देवी के बारे में पता लगाने के लिए अभि. सा. 9 देबू यादव के मकान पर गया और इसके बाद जब वे अभियुक्तों के मकान पर जा रहे थे तो अचानक अभि. सा. 9 और 10 से बिछुड़ गया, सभी अभियुक्त अपने सामान सहित अपने मकान से फरार हो गए और मकान पूरी तरह से खाली था, से यह अप्रतिरोध्य निष्कर्ष निकलता है कि बिंदुला देवी की मृत्यु के लिए अभियुक्त उत्तरदायी थे । न्यायालय की राय में, अभियोजन पक्ष द्वारा यह सिद्ध करने पर कि अभियुक्तों ने मृतका के साथ क्रूरता की थी और उन्होंने उसे दहेज के लिए तंग किया था, अभियुक्तों को अभियोजन के इस पक्षकथन को कि उन्होंने बिंदुला देवी की हत्या की थी, को नासाबित करने के लिए उन तथ्यों को प्रकट करना चाहिए था जो उनके निजी और विशिष्ट ज्ञान में थे । ऐसी स्थिति भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अंतर्गत आती है । जो भार अभियुक्तों पर अंतरित हो गया था, उनके द्वारा उसका निर्वहन नहीं किया गया । वर्तमान मामले में, मृतका स्वीकृततः अभियुक्तों की अभिरक्षा में थी । वह उनके घर से गायब हो गई थी । उसका शव कैसे नदी में पाया गया, यह उनके विशेष और निजी ज्ञान में था । वे अभियोजन के इस पक्षकथन को, कि उन्होंने बिंदुला देवी की हत्या की थी, नासाबित करने के लिए तथ्यों को प्रकट कर सकते थे । वे उस भार का निर्वहन करने में असफल रहे, जो साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अधीन उन पर अंतरित हुआ था । अभियोजन पक्ष से यह प्रत्याशा नहीं की जाती है कि वह उस हू-ब-हू रीति का उल्लेख करे, जिसमें मृतका की हत्या की गई थी । अभियुक्तों के विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकाले जाने की आवश्यकता है क्योंकि वे यह स्पष्ट करने में असफल रहे हैं कि मृतका कैसे नदी में एक फुट गहरे पानी में मृत पाई गई थी । प्रासंगिक रूप से, मरणोत्तर परीक्षा के टिप्पणों से शव के अन्दर बड़ी मात्रा में पानी की मौजूदगी की बात उपदर्शित नहीं होती है । अभि. सा. 12, डा. मंडल के अनुसार, डूबने के मामले में यदि मृत्यु तुरंत हो जाती है तब उदर में पानी की मात्रा नगण्य होगी । अभि. सा. 12, डा. मंडल के अनुसार यह प्रतीत होता है कि बिंदुला देवी की मृत्यु उसके पानी में डूबने के तुरंत पश्चात् हुई थी, क्योंकि उसके उदर में पानी अधिक नहीं था । यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक है कि बिंदुला देवी गर्भवती थी । उसके गर्भाश्य में पूर्ण अवधि का मृत नर शिशु था । इसलिए वह कोई

विरोध नहीं कर सकी होगी । इसलिए यह प्रतीत होता है कि शव पर कोई क्षति नहीं थी । समस्त क्रिया तेजी से और चतुराई से की गई प्रतीत होती है । किंतु, किसी भी दशा में, जैसाकि इसमें ऊपर उल्लेख किया गया है, यह स्पष्ट करने का भार अभियोजन पर नहीं है कि अभियुक्तों द्वारा बिंदुला देवी की मृत्यु किस रीति में कारित की गई थी, क्योंकि बिंदुला देवी घटना से पूर्व अभियुक्तों के मकान में रह रही थी और वह उसी मकान से गायब हुई थी । उसकी अस्वाभाविक मृत्यु को इंगित करने वाली सभी परिस्थितियां अभियुक्तों के विशेष और निजी ज्ञान में थीं जिनको उन्होंने प्रकट करना उचित नहीं समझा । इसके बजाय, उन्होंने एक पूर्णतः मिथ्या स्पष्टीकरण दिया कि जब बिंदुला देवी स्नान करने के लिए गई थी तो वह पानी में डूब गई और मर गई । यह कहानी नितांत रूप से मिथ्या है । अभियुक्तों द्वारा दिए गए मिथ्या स्पष्टीकरण से भी अभियोजन का पक्षकथन और मजबूत हो जाता है क्योंकि यह बात परिस्थितियों की शृंखला में एक अतिरिक्त कड़ी बन जाती है । न्यायालय का यह सुविचारित मत है कि इस मामले में अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया साक्ष्य अपेक्षित स्तर का है । अभिलेख के साक्ष्य के आधार पर अभियुक्तों की दोषिता के सिवाय कोई अन्य निष्कर्ष संभव नहीं है । सिद्ध तथ्य केवल उनकी दोषिता की परिकल्पना के संगत और उनकी निर्दोषिता के असंगत हैं । इसलिए यह अपील खारिज किए जाने योग्य है । (पैरा 13, 15, 17, 18 और 19)

न्यायालय को यह उल्लेख करना होगा कि यह तीसरा ऐसा मामला है जो दो मास की छोटी-सी अवधि में इस न्यायालय के ध्यान में आया है जहां विष देने की आशंका के मामले में अभिलेख पर विसरा रिपोर्ट नहीं लाई गई । हम उस तरीके के बारे में अपनी अत्यधिक अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं जिसमें ऐसे गंभीर मामलों को निपटाया जाता है । न्यायालय हैरान है कि क्या ऐसी चूक अनवधानता का परिणाम हैं या ये अभियोजन को निष्फल करने के लिए एक सुविचारित चेष्टा है । यद्यपि न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट सभी मामलों में आज्ञापक नहीं है, तो भी ऐसे मामलों में जहां विष देने की आशंका है, वहां यह सुनिश्चित करना उपयुक्त और न्याय के हित में होगा कि विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाए और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिप्राप्त की जाए । ऐसा इसलिए है क्योंकि सभी मामलों में यह साबित करने के लिए अभिलेख पर पर्याप्त अन्य ठोस साक्ष्य न हो कि मृतका को विष अभियुक्त द्वारा दिया गया था । दांडिक विचारण में अन्वेषक अधिकारी, अभियोजक और न्यायालय एक अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

न्यायालय का प्राथमिक कर्तव्य सत्य का पता लगाना है । अन्वेषक अधिकारी, अभियोजक और न्यायालय को अवश्य सामंजस्य पूर्वक काम करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि अभिलेख पर पर्याप्त विश्वसनीय विधिक साक्ष्य लाकर दोषियों को दंडित किया जाए । यदि अन्वेषक अधिकारी लड़खड़ाता है तो अभियोजक को अवश्य ही उसे संभालना चाहिए और कमी को सुधारने के लिए आवश्यक उपाय करना चाहिए । दांडिक न्यायालय को सचेत रहना आवश्यक है और उसे उनके कार्यों पर अवश्य नजर रखनी चाहिए और यदि उसे कूटकर्म का संदेह होता है तो उसे अवश्य अपनी व्यापक शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए और असली अभियोजन की अवहेलना करने के किसी प्रयास को निष्फल कर देना चाहिए । शायद, यदि विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा गया होता और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिलेख पर होती तो प्रस्तुत मामला और अधिक मजबूत हो जाता । इन वैज्ञानिक जांचों का किसी दांडिक मामले में बड़ा महत्व है, विशिष्ट रूप से जब साक्षियों की पक्षद्रोही होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है । प्रस्तुत मामले में वे सभी साक्षी, जिन्होंने विष देने के बारे में कथन किया था, पक्षद्रोही हो गए । यदि विसरा की रिपोर्ट अभिलेख पर होती और विष देने का पक्षकथन सत्य होता, तो अभियोजन पक्ष के पास और अधिक मजबूत आधार होता । यह पाए जाने पर कि कई मामलों में, जहां विष दिए जाने की आशंका है, अभियोजन अभिकरण विसरा की रिपोर्ट अभिप्राप्त करने के लिए उपाय नहीं करते, इसलिए हम इस निमित्त कतिपय निदेश जारी करना आवश्यक समझते हैं । यह न्यायालय यह निदेश देता है कि ऐसे मामलों में, जहां विष दिए जाने की आशंका है, मरणोत्तर परीक्षा के तुरंत पश्चात् विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाए । अभियोजन अभिकरण यह सुनिश्चित करें कि विसरा परीक्षण के लिए वास्तव में न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा गया है और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला यह सुनिश्चित करें कि विसरा का तुरंत परीक्षण किया जाए और रिपोर्ट अन्वेषक अभिकरणों/न्यायालयों को शीघ्रतापूर्वक भेजी जाए । यदि विसरा रिपोर्ट प्राप्त नहीं होती है, तो संबंधित न्यायालय को अवश्य स्पष्टीकरण मांगना चाहिए और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला के संबंधित अधिकारी को यह स्पष्टीकरण देने के लिए अवश्य समन करना चाहिए कि विसरा रिपोर्ट अन्वेषक अभिकरण/न्यायालय को क्यों प्रेषित नहीं की गई । दांडिक न्यायालय को अवश्य यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इसे अभिलेख पर लाया जाए । (पैरा 24 और 25)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2013]	(2013) 15 स्केल 338 : **छोटन साओ और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य** ;	23
[2013]	(2013) 13 स्केल 52 : **भूपेन्द्र** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य** ;	22
[2002]	(2002) 7 एस. सी. सी. 20 : **विठल तुकाराम मोरे और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** ;	6,19
[1997]	(1997) 9 एस. सी. सी. 338 : **बलराम प्रसाद अग्रवाल** बनाम **बिहार राज्य और अन्य** ;	7,16
[1956]	ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 404 : **शंभू नाथ मेहरा** बनाम **अजमेर राज्य** ।	15

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2009 की दांडिक अपील सं. 259.

1992 की दांडिक अपील सं. 154 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 24 नवम्बर, 1999 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री गौरव अग्रवाल और शंकर नारायणन्

प्रत्यर्थी की ओर से श्री गोपाल सिंह और सुश्री प्रेरणा सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति (श्रीमती) रंजना प्रकाश देसाई ने दिया ।

न्या. (श्रीमती) देसाई – प्रथम अपर सेशन न्यायाधीश, मधेपुरा द्वारा अपीलार्थी, जिसे अभियुक्त-2 के रूप में आरोपित किया गया था, का अन्य अभियुक्तों के साथ भारतीय दंड संहिता की धारा 149 और 201 के साथ पठित धारा 498-क और 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए विचारण किया गया था । अभियुक्तों के विरुद्ध, अन्य बातों के साथ-साथ, यह अभिकथन थे कि उन्होंने बिंदुला देवी के साथ, उसे और उसके अन्य नातेदारों को संपत्ति की अपनी अवैध मांग को पूरा करने के लिए मजबूर

करने की दृष्टि से, क्रूरता की और तंग किया और उसके द्वारा उनकी अवैध मांग को पूरा करने में असफल रहने पर उन्होंने अपने सामान्य उद्देश्य को अग्रसर करते हुए उसकी हत्या कर दी तथा स्वयं को विधिक शास्ति से बचाने के आशय से उसके शव को गायब कर दिया ।

2. बिंदुला देवी का विवाह अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव के साथ हुआ था । अपीलार्थी और अभियुक्त-3 शकुन देव यादव अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव के भाई हैं । अभियुक्त-4 दानी दत्ता यादव उनका पिता है और अभियुक्त-5 सत्य भामा देवी उनकी माता है । अभियुक्त-6 फुदाई यादव अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव का साला है ।

3. अभियोजन का वृत्तांत बिंदुला देवी के पिता शिकायतकर्ता अभि. सा. 9 देबू यादव के साक्ष्य में प्रतिबिम्बित होता है । उसने यह कथन किया कि उसकी पुत्री बिंदुला देवी का विवाह अभियुक्त-1 जयप्रकाश के साथ हुआ था । उसने यह भी कथन किया कि विवाह में दहेज के रूप में अभियुक्तों को उनकी मांग के अनुसार एक भैंस, एक गाय और एक बैलगाड़ी दी गई थी । तथापि, अभियुक्त इससे संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने कलाई की घड़ी और साइकिल की मांग की, जो उन्हें दिए गए । फिर भी उन्होंने बिंदुला देवी को तंग करना और उस पर हमला करना जारी रखा । उसने एक बालक को जन्म दिया । अभियुक्तों ने बिंदुला देवी को अपने घर रखा और बच्चे को इस साक्षी के घर भेज दिया ताकि वह बच्चे का पालन-पोषण करे । अभि. सा. 9 देबू यादव ने आगे यह भी कथन किया कि जब वह आश्विन मास में बिंदुला देवी को अपने घर लाया तो उसने उसे ससुराल में उसके साथ किए गए दुर्व्यवहार के बारे में बताया । वह वापस ससुराल नहीं जाना चाहती थी । उसने उसको शांत करने की कोशिश की । इस साक्षी ने दो कठ्ठा भूमि बिंदुला देवी के नाम में अंतरित कर दी । इसके बाद वह अपनी ससुराल गई । अभियुक्तों ने जोर दिया कि वह भूमि को बेच दे । क्योंकि वह भूमि बेचने के लिए सहमत नहीं हुई, उन्होंने उसे और यातना दी । अभि. सा. 9 देबू यादव ने यह भी कथन किया कि एक सोमवार को अपराह्न में 4.00 बजे अभियुक्त-6 फुदई यादव उसके मकान पर आया और पूछा कि क्या बिंदुला देवी यहां आई है और उसे बताया कि वह घर से भाग गई है । उसने अभियुक्त-6 फुदई यादव से कहा कि बिंदुला देवी अपने घर से नहीं भाग सकती । फिर यह साक्षी अपने पुत्र सचिन्दर यादव और उसके साले के साथ गांव कोलहुआ में स्थित अभियुक्तों के मकान पर जाने के लिए रवाना हुआ । अभियुक्त-6 फुदई

यादव कुछ दूरी तक उनके साथ गया और फिर किसी अन्य स्थान के लिए चला गया । वे कोलहुआ गांव में पहुंचे और अभियुक्तों का मकान खाली पाया । सभी अभियुक्त अपने सामान सहित मकान को छोड़कर चले गए थे । बिंदुला देवी भी वहां मौजूद नहीं थी । पूछने पर पड़ोसियों ने उन्हें बताया कि क्योंकि बिंदुला देवी ने अभियुक्तों के नाम में भूमि अंतरित करने से इनकार कर दिया था, इसलिए उन्होंने उसे विष खिला दिया और उसकी हत्या कर दी । यह साक्षी नदी की ओर के पुलिस उप-निरीक्षक से मिला और उसने उसका कथन अभिलिखित किया । तलाश की गई । बिंदुला देवी का शव नदी की सतह से बरामद किया गया । तारीख 31 जनवरी, 1989 को अभि. सा. 9 देबू यादव की औपचारिक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई और अन्वेषण आरंभ किया गया । अपीलार्थी, अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव और अभियुक्त-3 शकुन देव यादव ने तारीख 6 मार्च, 1989 को न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण कर दिया । अभियुक्त-4 दानी दत्ता यादव ने तारीख 26 अगस्त, 1989 को न्यायालय के समक्ष अभ्यर्पण किया ।

4. यद्यपि, अभियोजन पक्ष ने विचारण के दौरान 13 साक्षियों की परीक्षा कराई, तो भी उसका पक्षकथन मृतका के पिता, अभि. सा. 9 देबू यादव और मृतका के भाई, अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव के साक्ष्य पर निर्भर रहा । अभि. सा. 2 से 7 पक्षद्रोही हो गए । अभियुक्तों ने आरोप का दोषी न होने का अभिवाक् किया । उन्होंने दलील दी कि जब बिंदुला देवी स्नान के लिए गई थी, तो वह पानी में फिसल गई और डूबने से उसकी मृत्यु हो गई ।

5. विचारण न्यायालय ने अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया और उनमें से प्रत्येक को आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया । उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 498-क के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और प्रत्येक को तीन वर्ष का कठोर कारावास भोगने के लिए दंडादिष्ट किया गया । उन्हें भारतीय दंड संहिता की धारा 201 के अधीन भी दोषसिद्ध किया गया और प्रत्येक को सात वर्ष का कठोर कारावास भोगने का दंडादेश दिया गया । सभी मूल दंडादेश साथ-साथ चलने का आदेश किया गया । उच्च न्यायालय ने उनकी अपील खारिज कर दी । इसलिए अभियुक्त-2 द्वारा विशेष इजाजत लेकर यह अपील फाइल की गई ।

6. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री गौरव अग्रवाल ने यह

दलील दी कि प्रस्तुत मामला पारिस्थितिक साक्ष्य पर निर्भर है । काउंसेल ने बताया कि अपीलार्थी बिंदुला देवी के पति अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव का भाई है । अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव ने अपने साक्ष्य में यह कथन किया कि अभियुक्त-1 अपने अन्य भाइयों से अलग रहता था । अभिलेख पर यह सिद्ध करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं है कि अपीलार्थी दहेज की कोई मांग करने में सम्मिलित था या बिंदुला देवी के साथ कोई दुर्व्यवहार किया था । काउंसेल ने यह दलील दी कि ऐसे मामलों में जहां पति के अलावा उसके परिवार के अन्य सदस्यों को भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख, 302 और 498-क के अधीन अपराधों के लिए आरोपित किया जाता है और मामला पारिस्थितिक साक्ष्य पर निर्भर करता है, तो जब तक पारिस्थितिक साक्ष्य अपेक्षित स्तर का न हो, उसके आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती है । इस संबंध में विद्वान् काउंसेल ने **विठल तुकाराम मोरे और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले का अवलंब लिया । काउंसेल ने यह दलील दी कि हेतु के बारे में किए गए अभिकथन अस्पष्ट हैं । चिकित्सीय साक्ष्य अनिश्चायक है । किसी भी दशा में, चूंकि अपीलार्थी अलग रह रहा था, उसकी सह-अपराधिता को साबित करने वाले किसी सटीक साक्ष्य के अभाव में उसे दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता है ।

7. दूसरी ओर, बिहार राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री गोपाल सिंह ने यह दलील दी कि अभिलेख के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि सभी अभियुक्त एक ही आंगन में स्थित मकानों में रह रहे थे । काउंसेल ने यह दलील दी कि अभि. सा. 9 देबू यादव और अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव के साक्ष्य से अभियोजन का पक्षकथन सिद्ध होता है । प्रासंगिक तौर पर, अभियुक्तों ने पुलिस के पास कोई शिकायत दर्ज नहीं की थी । यह तथ्य कि वे अपने सामान सहित मकान से चले गए थे, उनकी सह-अपराधिता को इंगित करता है । काउंसेल ने यह दलील दी कि बिंदुला देवी अभियुक्तों के मकान से लापता हो गई थी । संदिग्ध परिस्थितियों में कैसे उसकी मृत्यु हुई, इसकी जानकारी अभियुक्तों को थी । यह सिद्ध करने का भार अभियुक्तों पर अंतरित हो गया था, जिसका उन्होंने निर्वहन नहीं किया । अभियुक्तों के विरुद्ध अवश्य प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए । इस संबंध में कांउसेल ने **बलराम प्रसाद अग्रवाल** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[2] वाले मामले का अवलंब लिया । काउंसेल ने अनुरोध

---

[1] (2002) 7 एस. सी. सी. 20.

[2] (1997) 9 एस. सी. सी. 338.

किया कि इसलिए यह अपील खारिज की जाए ।

8. हमने बिंदुला देवी के पिता, अभि. सा. 9 देबू यादव के साक्ष्य को पहले ही निर्दिष्ट किया है । उसने अभियुक्तों द्वारा मृतका को तंग और दुर्व्यवहार करने के बारे में स्पष्ट विवरण दिया है । अभियुक्त दहेज में दी गई एक बैलगाड़ी, एक गाय और एक भैंस से प्रसन्न नहीं थे । उन्होंने एक घड़ी और एक साइकिल मांगी । ये चीचें भी दी गई । उन्होंने और मांग की । अभि. सा. 9 देबू यादव ने 2 कठ्ठा भूमि बिंदुला देवी को अंतरित कर दी । अभियुक्त इस भूमि को बेचना चाहते थे या अपने नाम में अंतरित करवाना चाहते थे और चूंकि बिंदुला देवी इसके लिए सहमत नहीं हुई, इसलिए उन्होंने उसे यातना देना जारी रखा । बिंदुला देवी के पुत्र को उसके पिता के पास भेज दिया गया ताकि वह उसका पालन-पोषण करे, किंतु बिंदुला देवी को, स्पष्ट तौर पर काम करने के लिए, ससुराल में ही रखा गया । बिंदुला देवी के भाई, अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव ने अपने पिता के कथन की संपुष्टि की है । यह दुःखद है कि सभी अन्य साक्षी अर्थात् अभि. सा. 2 से अभि. सा. 7 पक्षद्रोही हो गए । इस मामले के तथ्यों में यह बात वस्तुतः अभियुक्तों की दोषिता को इंगित करने वाली है । उन्होंने अभियोजन साक्षियों को अपने पक्ष में कर लिया । हम अभि. सा. 9 देबू यादव द्वारा अपनी प्रतिपरीक्षा में, अधिसंभाव्यतः क्रूरता के बारे में अभिसाक्ष्य देने के लिए कोई स्वतंत्र साक्षी न होने के बारे में पूछे गए प्रायिक प्रश्न के उत्तर के रूप में कहे गए निम्नलिखित वाक्यों का खेद के साथ उल्लेख करते हैं । उसने कहा कि "जब कभी मेरी पुत्री मेरे घर आती थी, वह यह शिकायत करती थी कि उसे वहां यातना दी जाती है और हमला किया जाता है । इस तथ्य का और कोई कौन साक्षी हो सकता है ?" अभि. सा. 9 और 10 के साक्ष्य का परिशीलन करने पर हमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है कि बिंदुला देवी के साथ अभियुक्तों द्वारा दहेज के लिए क्रूरता की गई थी और उसे तंग किया गया था । इन साक्षियों का साक्ष्य निष्कपट और सच्चा है । इसमें कोई बढ़ा-चढ़ाकर कही गई बात नहीं है । प्रतिपरीक्षा में उनके साक्ष्य में कोई कमी प्रकट नहीं हुई है । उनके साक्ष्य का निर्विवाद अवलंब लिया जा सकता है ।

9. यह दलील दी गई है कि अपीलार्थी अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव से अलग रहता था और इसलिए वह अन्य अभियुक्तों के क्रूरता के अभिकथित कृत्यों का सांझीदार नहीं हो सकता है । हम इस दलील में कोई सार नहीं पाते हैं । यद्यपि, अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव का यह

कथन है कि अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव विवाह के पश्चात् अपने भाइयों से अलग हो गया था, उसने यह स्पष्ट किया है कि सभी भाइयों के एक सांझे आंगन में अपने-अपने मकान थे । अभि. सा. 9 देबू यादव ने अपीलार्थी को विनिर्दिष्ट रूप से उस व्यक्ति के रूप में नामित किया है जिसने पशुओं की मांग की थी । उसने यह कथन किया है कि अभियुक्त उसके द्वारा दिए गए पशुओं से संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने अधिक दहेज की मांग की । वे बिंदुला देवी को तंग और उस पर हमला करते रहते थे । इस साक्षी ने यह कथन किया है कि जब वह यह सूचना प्राप्त होने पर कि बिंदुला देवी अभियुक्तों के घर से चली गई है, उनके मकान पर गया तो उसने मकान खाली पाया । सभी अभियुक्त फरार हो गए थे । वे अपना सामान साथ ले गए थे । इस बात की पुष्टि अन्वेषक अधिकारी, अभि. सा. 13 सुरेन्द्र राय द्वारा की गई है । उसने यह कथन किया है कि जब वह बिंदुला देवी के गायब होने के बारे में सूचना प्राप्त होने के पश्चात् अभियुक्तों के मकान पर गया तो उसने मकान को पूरी तरह खाली पाया । यहां तक कि घरेलू सामान और अनाज भी गायब था । अभियुक्त वहां मौजूद नहीं थे । उनके परिवार का कोई भी सदस्य वहां नहीं था । बिंदुला देवी भी वहां नहीं थी । ये परिस्थितियां हमें इस दलील को नामंजूर करने के लिए प्रेरित करती हैं कि अपीलार्थी ने बिंदुला देवी के साथ क्रूरता करने में अन्य अभियुक्तों का साथ नहीं दिया था । इसलिए अपीलार्थी का भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 498-क के अधीन की गई दोषसिद्धि और दिया गया दंडादेश पूरी तरह से न्यायोचित है ।

10. अब हम बिंदुला देवी की मृत्यु के प्रश्न पर आते हैं । अभि. सा. 9 देबू यादव और अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव ने यह कथन किया है कि बिंदुला देवी का शव नदी की सतह से बरामद हुआ था । अन्वेषक अधिकारी, अभि. सा. 13 सुरेन्द्र राय ने यह कथन किया है कि अभि. सा. 9 देबू यादव की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिलिखित करने के पश्चात् उसने अभियुक्त-1 जयप्रकाश यादव के मकान का निरीक्षण किया था । बिंदुला देवी का शव अभियुक्त के मकान से 600 गज दूर पड़ा हुआ पाया था । यह नदी के दक्षिणी किनारे से सटे एक घाट के निकट एक फुट गहरे पानी में पड़ा हुआ था । घाट हजारी मंडल के मक्के के खेत से सटकर स्थित था । उसने शव को बाहर निकाला और मृत्यु-समीक्षा रिपोर्ट तैयार की । इस साक्षी ने यह भी कथन किया है कि विनोद नामक एक व्यक्ति ने यह बताया कि तारीख 29 जनवरी, 1989 को अभियुक्तों की एक बैठक हुई

थी । वे तारीख 30 जनवरी, 1989 को किसी अन्य स्थान पर चले गए और सायंकाल में यह पता चला कि उन्होंने बिंदुला देवी को विष देकर उसकी हत्या कर दी थी और उसके शव को घाट पर फेंक दिया था । अन्वेषक अधिकारी ने आगे यह कथन किया कि विनोद, परमेश्वरी यादव, बृज बिहारी यादव ने भी इस तथ्य की पुष्टि की । ये सभी व्यक्ति न्यायालय में पक्षद्रोही हो गए ।

11. अभि. सा. 12 अरूण कुमार मंडल ने बिंदुला देवी के शव की मरणोत्तर परीक्षा की थी । उसकी मताभिव्यक्ति निम्नलिखित है :–

"1. (1) दोनों नथुनों से नकसीर ।

(2) मुंह से झाग-युक्त रक्त ।

(3) दोनों नेत्रगोलक संकुलित, कार्निया धुंधला ।

(4) चेहरा संकुलित और नीलिमायुक्त ।

(5) दोनों हाथों और पैरों की त्वचा सुकड़ी हुई ।

2. खोपड़ी को खोलने पर मेनिनजिस और मस्तिष्क पदार्थ में की सभी रक्त धमनियां संकुलित थीं ।

3. छाती में दोनों फेफड़े संकुलित, झागदार और स्पंजी पाए गए और रक्त थक्कों को काटने पर झाग खंडों में पाया गया ।

4. हृदय में दोनों प्रकोष्ठ भरे हुए पाए गए ।

5. उदर में लगभग 4 औंस रक्त-युक्त अधपचा भोजन था ।

6. छोटी आंत में गैस और ठोस पदार्थ था ।

7. बड़ी आंत में गैस और ठोस पदार्थ था ।

8. दोनों गुर्दे संकुलित पाए गए ।

9. यकृत और प्लीहा भी संकुलित पाए गए ।

10. गर्भाश्य में लगभग पूर्ण अवधि का मृत नर शिशु था ।"

12. अभि. सा. 12 डा. अरूण कुमार मंडल ने यह राय व्यक्त की कि मृत्यु डूबने की वजह से हुए श्वासावरोध के कारण हुई थी । उसने यह कथन किया कि डूबने के मामलों में यदि मृत्यु तुरंत हो जाती है तब उदर में पानी की मात्रा नगण्य होगी । उसने आगे यह भी कथन किया कि मृत्यु

एक फुट गहरे पानी में भी हो सकती है, यदि विपदग्रस्त को उसकी गर्दन दबाकर सोने की स्थिति में पानी में रखा जाता है । यहां यह उल्लेखनीय है कि अभिलेख पर विसरा के परीक्षण की रिपोर्ट नहीं है । डा. मंडल ने यह स्वीकार किया है कि उसे विसरा परीक्षण के परिणाम की जानकारी नहीं है । उसने यह भी कथन किया कि मृतका के शरीर पर कोई क्षति नहीं थी ।

13. हमारी राय में, बिंदुला देवी के पिता और भाई के साक्ष्य तथा अन्य विद्यमान परिस्थितियों, जैसे मजबूत हेतु, यह तथ्य कि अभियुक्तों ने बिंदुला देवी के गुम होने के बारे में कोई शिकायत दर्ज नहीं कराई, अभियुक्त-6 फुदई यादव बिंदुला देवी के बारे में पता लगाने के लिए अभि. सा. 9 देबू यादव के मकान पर गया और इसके बाद जब वे अभियुक्तों के मकान पर जा रहे थे तो अचानक अभि. सा. 9 और 10 से बिछुड़ गया, सभी अभियुक्त अपने सामान सहित अपने मकान से फरार हो गए और मकान पूरी तरह से खाली था, से यह अप्रतिरोध्य निष्कर्ष निकलता है कि बिंदुला देवी की मृत्यु के लिए अभियुक्त उत्तरदायी थे ।

14. यह दलील दी गई है कि चूंकि बिंदुला देवी के शव पर कोई क्षति नहीं थी, यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि बिंदुला देवी को, डाक्टर द्वारा दिए गए सुझाव अनुसार, उसकी गर्दन दबाकर सोने की स्थिति में पानी में रखा गया था । इसलिए अभियोजन के इस वृत्तांत को कि अभियुक्तों ने बिंदुला देवी की हत्या की थी, अवश्य खारिज किया जाना चाहिए । यह दलील दी गई है कि चिकित्सीय साक्ष्य से अभियोजन के पक्षकथन का समर्थन नहीं होता है ।

15. हमारी राय में, अभियोजन पक्ष द्वारा यह सिद्ध करने पर कि अभियुक्तों ने मृतका के साथ क्रूरता की थी और उन्होंने उसे दहेज के लिए तंग किया था, अभियुक्तों को अभियोजन के इस पक्षकथन को कि उन्होंने बिंदुला देवी की हत्या की थी, को नासाबित करने के लिए उन तथ्यों को प्रकट करना चाहिए था जो उनके निजी और विशिष्ट ज्ञान में थे । ऐसी स्थिति भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अंतर्गत आती है । जो भार अभियुक्तों पर अंतरित हो गया था, उनके द्वारा उसका निर्वहन नहीं किया गया । इस संबंध में हम उपयोगी रूप से **शंभू नाथ मेहरा** बनाम **अजमेर राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय को निर्दिष्ट कर

---

[1] ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 404.

सकते हैं, जिसमें इस न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि साक्ष्य अधिनियम की धारा 101 और धारा 106 कैसे लागू होती हैं । उक्त निर्णय का सुसंगत भाग निम्नलिखित है :–

> "(10) धारा 106, धारा 101 का अपवाद है । धारा 101 सबूत के भार के बारे में साधारण नियम अधिकथित करती है –
>
> > 'जो कोई न्यायालय से यह चाहता है कि वह ऐसे किसी विधिक अधिकार या दायित्व के बारे में निर्णय दे, जो उन तथ्यों के अस्तित्व पर निर्भर है, जिनका वह प्रख्यान करता है, उसे साबित करना होगा कि उन तथ्यों का अस्तित्व है ।'
> >
> > दृष्टांत (क) में यह कहा गया है –
> >
> > 'क न्यायालय से चाहता है कि वह ख को उस अपराध के लिए दण्डित करने का निर्णय दे, जिसके बारे में क कहता है कि वह ख ने किया है ।
> >
> > क को यह साबित करना होगा कि ख ने वह अपराध किया है ।'
>
> (11) यह धारा इस साधारण नियम को अधिकथित करती है कि किसी दांडिक मामले में सबूत का भार अभियोजन पक्ष पर होता है और धारा 106 का आशय निश्चित तौर पर उसे इस कर्तव्य से मुक्त करना नहीं है । इसके विपरीत, यह धारा कतिपय ऐसे मामलों से निपटने के लिए उपबंधित की गई है, जिनमें अभियोजन पक्ष के लिए ऐसे तथ्यों को सिद्ध करना असंभव, या किसी भी स्थिति में अननुपातिक रूप से कठिन होगा, जो 'विशेषतः' अभियुक्त के ज्ञान में हों और जिन्हें वह किसी कठिनाई या असुविधा के बिना साबित कर सकता है ।"

16. **बलराम प्रसाद अग्रवाल** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में अभियोजन पक्ष ने अभियुक्त अर्थात् मृतका के पति और उसके परिवार के सदस्यों के क्रूर आचरण तथा उनके हाथों मृतका द्वारा उठाए गए कष्टों को सिद्ध कर दिया था । अभियुक्तों के असहनीय आचरण के परिणामस्वरूप अंततः अभियुक्तों के मकान के आंगन में बने कुएं में डूबने से उसकी मृत्यु हो गई । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि को

---

[1] (1997) 9 एस. सी. सी. 338.

क्या घटित हुआ था और मृतका का कुएं में गिरने का क्या कारण था, यह पूरी तरह से अभियुक्तों के निजी और विशिष्ट ज्ञान में था । किंतु वे इस पहलू पर मौन रहे । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यह सही है कि मामले को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर होता है । किंतु जब एक बार यह पाया गया है कि अभियोजन पक्ष ने यह दर्शित किया है कि अभियुक्त लगातार कई वर्षों से मृतका के प्रति क्रूरता के आचरण के दोषी थे, जैसाकि मृतका के पिता के अडिग परिसाक्ष्य से पूरी तरह सिद्ध होता है, इसलिए वे तथ्य जो अभियुक्तों के निजी ज्ञान में थे और वे उस दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि को मकान में मौजूद थे, अभियोजन के पक्षकथन को नासाबित करने के लिए उनके द्वारा प्रकट किए जा सकते थे । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अभियुक्तों ने उस भार का निर्वहन नहीं किया, जो साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अधीन उन पर अंतरित हुआ था । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस न्यायालय ने **शंभूनाथ मेहरा** (उपरोक्त) वाले मामले का अवलंब लिया ।

17. वर्तमान मामले में, मृतका स्वीकृततः अभियुक्तों की अभिरक्षा में थी । वह उनके घर से गायब हो गई थी । उसका शव कैसे नदी में पाया गया, यह उनके विशेष और निजी ज्ञान में था । वे अभियोजन के इस पक्षकथन को, कि उन्होंने बिंदुला देवी की हत्या की थी, नासाबित करने के लिए तथ्यों को प्रकट कर सकते थे । वे उस भार का निर्वहन करने में असफल रहे, जो साक्ष्य अधिनियम की धारा 106 के अधीन उन पर अंतरित हुआ था । अभियोजन पक्ष से यह प्रत्याशा नहीं की जाती है कि वह उस हू-ब-हू रीति का उल्लेख करे, जिसमें मृतका की हत्या की गई थी । अभियुक्तों के विरुद्ध प्रतिकूल निष्कर्ष निकाले जाने की आवश्यकता है क्योंकि वे यह स्पष्ट करने में असफल रहे हैं कि मृतका कैसे नदी में एक फुट गहरे पानी में मृत पाई गई थी ।

18. प्रासंगिक रूप से, मरणोत्तर परीक्षा के टिप्पणों से शव के अन्दर बड़ी मात्रा में पानी की मौजूदगी की बात उपदर्शित नहीं होती है । अभि. सा. 12, डा. मंडल के अनुसार, डूबने के मामले में यदि मृत्यु तुरंत हो जाती है तब उदर में पानी की मात्रा नगण्य होगी । अभि. सा. 12, डा. मंडल के अनुसार यह प्रतीत होता है कि बिंदुला देवी की मृत्यु उसके पानी में डूबने के तुरंत पश्चात् हुई थी, क्योंकि उसके उदर में पानी अधिक नहीं था । यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक है कि बिंदुला देवी गर्भवती थी । उसके गर्भाश्य में पूर्ण अवधि का मृत नर शिशु था । इसलिए वह कोई

विरोध नहीं कर सकी होगी । इसलिए यह प्रतीत होता है कि शव पर कोई क्षति नहीं थी । समस्त क्रिया तेजी से और चतुराई से की गई प्रतीत होती है । किंतु, किसी भी दशा में, जैसाकि इसमें ऊपर उल्लेख किया गया है, यह स्पष्ट करने का भार अभियोजन पर नहीं है कि अभियुक्तों द्वारा बिंदुला देवी की मृत्यु किस रीति में कारित की गई थी, क्योंकि बिंदुला देवी घटना से पूर्व अभियुक्तों के मकान में रह रही थी और वह उसी मकान से गायब हुई थी । उसकी अस्वाभाविक मृत्यु को इंगित करने वाली सभी परिस्थितियां अभियुक्तों के विशेष और निजी ज्ञान में थीं जिनको उन्होंने प्रकट करना उचित नहीं समझा । इसके बजाए, उन्होंने एक पूर्णतः मिथ्या स्पष्टीकरण दिया कि जब बिंदुला देवी स्नान करने के लिए गई थी तो वह पानी में डूब गई और मर गई । यह कहानी नितांत रूप से मिथ्या है । अभियुक्तों द्वारा दिए गए मिथ्या स्पष्टीकरण से भी अभियोजन का पक्षकथन और मजबूत हो जाता है क्योंकि यह बात परिस्थितियों की श्रृंखला में एक अतिरिक्त कड़ी बन जाती है ।

19. यह सत्य है कि **विठल तुकाराम मोरे** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जहां पति के परिवार के अन्य सदस्यों को भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख, 302 और 498-क के अधीन अपराधों के लिए आरोपित किया जाता है और मामला पारिस्थितिक साक्ष्य पर निर्भर हो, वहां पारिस्थितिक साक्ष्य, यदि उसके आधार पर दोषसिद्धि की जानी है, अवश्य अपेक्षित स्तर का होना चाहिए । हमारा यह सुविचारित मत है कि इस मामले में अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया साक्ष्य अपेक्षित स्तर का है । अभिलेख के साक्ष्य के आधार पर अभियुक्तों की दोषिता के सिवाय कोई अन्य निष्कर्ष संभव नहीं है । सिद्ध तथ्य केवल उनकी दोषिता की परिकल्पना के संगत और उनकी निर्दोषिता के असंगत हैं । इसलिए यह अपील खारिज किए जाने योग्य है ।

20. इस मामले से अलग होने से पूर्व, हमारे लिए इस मामले के एक अति महत्वपूर्ण पहलू को निर्दिष्ट करना आवश्यक है । अभि. सा. 9 देबू यादव, मृतका के पिता ने यह कथन किया है कि उसे पड़ोसियों ने यह बताया था कि अभियुक्तों द्वारा बिंदुला देवी को विष दिया गया था । अभि. सा. 10 सचिन्दर यादव, मृतका के भाई ने भी ऐसा ही कथन किया है । अभि. सा. 13 सुरेन्द्र राय, अन्वेषक अधिकारी का कथन इससे भी बढ़कर है । उसने यह कथन किया है कि विनोद यादव, शिव पूजन राम, विनोद कुमार मेहता, परमेश्वर यादव और बृज बिहारी यादव ने उसे यह बताया था कि

अभियुक्तों ने बिंदुला देवी को विष देकर उसकी हत्या कर दी है, उन्होंने शव को नदी में छिपाया है और भाग गए हैं । दुर्भाग्यवश, ये साक्षी पक्षद्रोही हो गए । किंतु वास्तविकता यह है कि अभियोजन पक्ष ने विष देने का मामला प्रकट किया था । इसलिए अभियोजन पक्ष के लिए न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला से विसरा का परीक्षण कराना आवश्यक था ।

21. विचारण न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि अन्वेषक अधिकारी ने तारीख 19 अप्रैल, 1988 को यह अनुरोध करते हुए डाक्टर को एक आवेदन दिया था कि विसरा रसायनिक परीक्षण के लिए न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला, पटना भेजा जाए । मरणोत्तर परीक्षा के टिप्पणों में यह उल्लेख है कि भावी आवश्यकताओं हेतु विसरा संरक्षित रखा गया था । यह बात अभि. सा. 12 डा. मंडल द्वारा भी कही गई है । तथापि, डा. मंडल ने यह भी कथन किया कि उसे विसरा के परिणाम की जानकारी नहीं है । अन्वेषक अधिकारी, अभि. सा. 13 सुरेन्द्र राय के साक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि डाक्टर ने विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला नहीं भेजा था । जब अन्वेषक अधिकारी से विसरा रिपोर्ट के बारे में प्रश्न किया गया तो उसने प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया कि विसरा का परीक्षण कराने के लिए डाक्टर को एक पत्र भेजा गया था । उसने यह भी कथन किया कि उसने डाक्टर के विरुद्ध अपने ज्येष्ठ अधिकारियों को कोई शिकायत नहीं की थी, अपितु डायरी के माध्यम से अपने अधिकारी को सूचित किया था । हमारी यह राय है कि जब डाक्टर से विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजने के लिए अनुरोध किया गया था, तो उसे इसे भेजना चाहिए था । डाक्टर द्वारा ऐसा नहीं करने पर अन्वेषक अधिकारी को अपने ज्येष्ठ अधिकारी को सूचित करना चाहिए था और केवल एक डायरी में प्रविष्टि करने के बजाय यह सुनिश्चित करने के लिए उपाय करना चाहिए था कि विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जा सके । ऐसी निष्क्रिय उदासीनता से दांडिक न्याय प्रशासन व्यवस्था पर खतरनाक प्रभाव पड़ता है ।

22. हम इस बात से अनभिज्ञ हैं कि कुछ मामलों में, जहां विष देने के मामले को सिद्ध करने के लिए अभिलेख पर निश्चित साक्ष्य है, वहां इस न्यायालय ने विसरा रिपोर्ट के अभाव में भी दोषसिद्धि की है । **भूपेन्द्र** बनाम **मध्य प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय को ऐसे मामले पर विचार

---

[1] (2013) 13 स्केल 52.

करना था, जहां अभिलेख पर विसरा रिपोर्ट नहीं थी, किंतु विष दिए जाने का पर्याप्त साक्ष्य था । अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख और 306 के अधीन आरोपित किया गया था । इस न्यायालय ने साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 113-ख और 113-क के अधीन उपधारणाओं का आश्रय लेते हुए और इस बिंदु पर सुसंगत निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि मृतका की मृत्यु विष देने से हुई थी । इस न्यायालय की सुसंगत मताभिव्यक्ति को उद्धृत किया जा सकता है :–

> "इन विनिश्चयों से स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि दहेज-मृत्यु के प्रत्येक मामले में विसरा का रसायनिक परीक्षण कराना आज्ञापक नहीं है; यहां तक कि जब भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख या धारा 306 के अधीन दंडनीय अस्वाभाविक मृत्यु हो जाती है और जब विसरा रिपोर्ट की ईप्सा की गई हो, तब भी इसका अभाव अभियोजन के पक्षकथन के लिए आवश्यक रूप से घातक नहीं है; भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख (साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 113-ख के अधीन उपधारणा के साथ पठित) या भारतीय दंड संहिता की धारा 306 (साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 113-क के अधीन उपधारणा के साथ पठित) के अधीन अस्वाभाविक मृत्यु के मामले में जब विष दिए जाने का साक्ष्य हो, विष की पहचान करना आत्यंतिक रूप से आवश्यक नहीं हो सकेगा ।"

23. **छोटन साओ और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में यह न्यायालय ऐसे मामले पर विचार कर रहा था, जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख और 498-क अंतर्वलित थीं । यह अभिकथन थे कि मृतका की हत्या उसे विष देकर की गई थी । अभिलेख पर विसरा रिपोर्ट नहीं थी । अभिलेख पर यह सिद्ध करने के लिए कोई अन्य साक्ष्य नहीं था कि मृतका को विष दिया गया था । इस न्यायालय ने अपने समक्ष मामले को **भूपेन्द्र** (उपरोक्त) वाले मामले के तथ्यों से प्रभेदित किया और अभियुक्त को भारतीय दंड संहिता की धारा 304-ख के अधीन आरोप से दोषमुक्त करते हुए निम्नलिखित प्रासंगिक मताभिव्यक्ति की :–

> "17. इस अपील से अलग होने से पूर्व हम अन्वेषण की अपर्याप्तता, लोक अभियोजक और मजिस्ट्रेट, जिसने धारा 304-ख के अधीन अपराध का संज्ञान लिया, की ओर से उत्तरदायित्व का निर्वहन

---

[1] (2013) 15 स्केल 338.

करने में असफल रहने के संबंध में अभिलेख पर अपनी नाराजगी प्रकट करना चाहते हैं । अन्वेषक अधिकारी, जिसने आरोप-पत्र प्रस्तुत किया, को न्यायालयिक प्रयोगशाला से विसरा की रिपोर्ट प्राप्त किए बिना और इसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए बिना आरोप-पत्र प्रस्तुत नहीं करना चाहिए था । अपराध की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, विशिष्ट रूप से मृतका बबीता देवी के विष खा लेने के संबंध में किसी प्रत्यक्ष साक्ष्य के अभाव में, यह एक अति महत्वपूर्ण दस्तावेज है । समान रूप से, लोक अभियोजक इस विषय में अन्वेषक अधिकारी का मार्गदर्शन करने में असफल रहा । मजिस्ट्रेट, जिसने सेशन न्यायालय को मामला सुपुर्द किया था, की बात करें तो वह अपने मस्तिष्क का प्रयोग करने में असफल रहा और उसने यंत्रवत विचारण के लिए मामला सुपुर्द कर दिया । लोक अभियोजकों और न्यायिक अधिकारियों को दांडिक मामले में विधि के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए और अधिक उत्तरदायित्व समझना चाहिए । उनकी ओर से की गई किसी गलती से, जैसीकि प्रस्तुत मामले में की गई है, अभियोजन का पक्षकथन संकट में पड़ना और परिणामस्वरूप टालने योग्य दोषमुक्तियां होना लाजिमी हैं । उनकी अदक्षता और निर्दयता से इस देश के दांडिक न्याय प्रशासन की व्यवस्था से समाज का विश्वास डगमगाना लाजिमी है, जो हमारी राय में, अभीष्ट स्तर से काफी नीचे पहुंच गया है ।"

24. हमें यह उल्लेख करना होगा कि यह तीसरा ऐसा मामला है जो दो मास की छोटी-सी अवधि में इस न्यायालय के ध्यान में आया है जहां विष देने की आशंका के मामले में अभिलेख पर विसरा रिपोर्ट नहीं लाई गई । हम उस तरीके के बारे में अपनी अत्यधिक अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं जिसमें ऐसे गंभीर मामलों को निपटाया जाता है । हम हैरान हैं कि क्या ऐसी चूक अनवधानता का परिणाम है या ये अभियोजन को निष्फल करने के लिए एक सुविचारित चेष्टा है । यद्यपि न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट सभी मामलों में आज्ञापक नहीं है, तो भी ऐसे मामलों में जहां विष देने की आशंका है, वहां यह सुनिश्चित करना उपयुक्त और न्याय के हित में होगा कि विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाए और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिप्राप्त की जाए । ऐसा इसलिए है क्योंकि सभी मामलों में यह साबित करने के लिए अभिलेख पर पर्याप्त अन्य ठोस साक्ष्य न हो कि मृतका को विष अभियुक्त द्वारा दिया

गया था । दांडिक विचारण में अन्वेषक अधिकारी, अभियोजक और न्यायालय एक अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । न्यायालय का प्राथमिक कर्तव्य सत्य का पता लगाना है । अन्वेषक अधिकारी, अभियोजक और न्यायालय को अवश्य सामंजस्य पूर्वक काम करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि अभिलेख पर पर्याप्त विश्वसनीय विधिक साक्ष्य लाकर दोषियों को दंडित किया जाए । यदि अन्वेषक अधिकारी लड़खड़ाता है तो अभियोजक को अवश्य ही उसे संभालना चाहिए और कमी को सुधारने के लिए आवश्यक उपाय करना चाहिए । दांडिक न्यायालय को सचेत रहना आवश्यक है और उसे उनके कार्यों पर अवश्य नजर रखनी चाहिए और यदि उसे कूटकर्म का संदेह होता है तो उसे अवश्य अपनी व्यापक शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए और असली अभियोजन की अवहेलना करने के किसी प्रयास को निष्फल कर देना चाहिए । शायद, यदि विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा गया होता और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला की रिपोर्ट अभिलेख पर होती तो प्रस्तुत मामला और अधिक मजबूत हो जाता । इन वैज्ञानिक जांचों का किसी दांडिक मामले में बड़ा महत्व है, विशिष्ट रूप से जब साक्षियों की पक्षद्रोही होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है । प्रस्तुत मामले में वे सभी साक्षी, जिन्होंने विष देने के बारे में कथन किया था, पक्षद्रोही हो गए । यदि विसरा की रिपोर्ट अभिलेख पर होती और विष देने का पक्षकथन सत्य होता, तो अभियोजन पक्ष के पास और अधिक मजबूत आधार होता ।

25. यह पाए जाने पर कि कई मामलों में, जहां विष दिए जाने की आशंका है, अभियोजन अभिकरण विसरा की रिपोर्ट अभिप्राप्त करने के लिए उपाय नहीं करते, इसलिए हम इस निमित्त कतिपय निदेश जारी करना आवश्यक समझते हैं । हम यह निदेश देते हैं कि ऐसे मामलों में, जहां विष दिए जाने की आशंका है, मरणोत्तर परीक्षा के तुरंत पश्चात् विसरा न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा जाए । अभियोजन अभिकरण यह सुनिश्चित करें कि विसरा परीक्षण के लिए वास्तव में न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला भेजा गया है और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला यह सुनिश्चित करें कि विसरा का तुरंत परीक्षण किया जाए और रिपोर्ट अन्वेषक अभिकरणों/न्यायालयों को शीघ्रतापूर्वक भेजी जाए । यदि विसरा रिपोर्ट प्राप्त नहीं होती है, तो संबंधित न्यायालय को अवश्य स्पष्टीकरण मांगना चाहिए और न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला के संबंधित अधिकारी को यह स्पष्टीकरण देने के लिए अवश्य समन करना चाहिए कि विसरा

रिपोर्ट अन्वेषक अभिकरण/न्यायालय को क्यों प्रेषित नहीं की गई । दांडिक न्यायालय को अवश्य यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इसे अभिलेख पर लाया जाए ।

26. हमने इस मामले के गुणागुण की परीक्षा की है और यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि यह अपील खारिज किए जाने योग्य है । इन परिस्थितियों में, यह अपील खारिज की जाती है ।

27. इस आदेश की एक प्रति, सभी उच्च न्यायालयों के रजिस्ट्रार जनरल को इस निदेश के साथ कि इसे सभी अधीनस्थ दांडिक न्यायालयों को परिचालित किया जाए, संबंधित उच्च न्यायालयों की अधिकारिता के भीतर आने वाले अभियोजन निदेशक, सचिव, गृह मंत्रालय, सचिव, गृह विभाग और निदेशक, न्यायालयिक विज्ञान प्रयोगशाला को भेजी जाए ।

अपील खारिज की गई ।

जस.